प्रथम अध्याय

भाषा : अवधारणा

साहित्य या काव्य को पुराने समय से ही ईश्वर द्वारा रचित दुनिया के समानान्तर एक सृष्टि कहा गया है- अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः/ यथास्मै रोचते विश्वम तथैव प्रतिजानीते।[1] साहित्य साहित्यकार की बनाई अपनी सृष्टि है जो बाह्य सृष्टि के समान ही बहुस्तरीय और जटिल है। यह समानांतर सृष्टि पूर्णतः भाषा में होती है, अतः भाषा द्वारा साहित्येतर समाज में जितने प्रकार्य सम्पन्न होते हैं, उन सबका निदर्शन इसमें भी होता है। तब जाहिर है कि इस सृष्टि की बेहतर समझ और इसके बेहतर आस्वाद के लिए भाषा मात्र को उसके आयामों और प्रकार्यों के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में समझा जाए।

एक चैतन्य तथा सामाजिक जीव के रूप में मनुष्य के विकसित होने के मूल में भाषा की अहम भूमिका है। प्रकृति में अन्य जीवों से इतर मनुष्य ने जो भी सृजन प्रकृति के समानांतर किया है, वह भाषा के बिना संभव नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य की सारी सृष्टि भाषा की सृष्टि है। मनुष्य की चेतना भाषा की निर्मिति है, मनुष्य की स्मृति भाषा की निर्मिति है अतः मनुष्य का सारा ज्ञान भी भाषा की निर्मिति है। अतः ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की विशिष्टता के अनुसार भाषा का अध्ययन भी कई आधारों पर होता रहा है जिससे भाषा की अवधारणा समग्रता में समझी जा सकती है।

1. भाषा : सम्प्रेषण, साधन, साध्य

भाषा विचारों और भावों और ज्ञान के एक व्यक्ति से अन्य व्यक्तियों तक सम्प्रेषण का माध्यम है; भाषा अनुभव व ज्ञान को उपलब्ध करने का साधन है; भाषा ही ज्ञान है और दुनिया की निर्मात्री व चालक शक्ति है अतः यह साध्य है। इन दृष्टिकोणों के आधार पर भाषा की अवधारणा व्यक्त की गई है। फ्रांसिसी भाषावैज्ञानिक एमिल बेनवेनिस्त (1903-1976) ने वाक्य की संरचना को परिभाषित करने के क्रम में भाषा के दो कार्यक्षेत्रों (डोमेन) का जिक्र किया है।[2] भाषा संकेतों या प्रतीकों की व्यवस्था है, यह भाषा-अध्ययन का एक डोमेन है। दूसरा डोमेन भाषा का वह है जहाँ भाषा सम्प्रेषण का माध्यम है, विमर्श आदि भाषा के इसी सम्प्रेषणपरक डोमेन के अंग हैं।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की दृष्टि में "सर्वाधिक ठोस सिद्धांत भाषा के बारे में यह है कि भाषा वह है जिसे हम जानते हैं (लैंग्वेज इज समथिंग वी नो)।"[3] इस बात को पढ़ते हुए जब हम जानी हुई बातों और जानने की प्रक्रिया पर गौर करते हैं तो पाते हैं कि जानने में सबसे पहले हम भाषा जानते हैं और आखिरी बात यह कि हम जो भी जानते हैं वह भाषा में ही जानते हैं। भाषा के अभाव में यह जानना भी संभव नहीं कि हम क्या नहीं जानते। अतः हम क्या और कितना जानते हैं, इसके बारे में सचेत जिज्ञासा की शुरुआत भाषा को जानने से होती है। भाषा को जानने की प्रक्रिया में पहली बात हमारे सामने यह आती है कि भाषा का प्रयोग हम अन्य लोगों तक अपनी बात (भाव, विचार, सामान्य कथन आदि) पहुँचाने के लिए करते हैं। बात पहुँचाने को सम्प्रेषण कहा जाता है। अतः सम्प्रेषण भाषा का सबसे बुनियादी प्रयोजन है और भाषा के विषय में पहली बात यही लक्षित होती है।

भाषा की प्रकृति को परिभाषित करते हुए भाषाविद् लेनर्ड ब्लूमफील्ड ने सम्प्रेषण (स्टिमुलस-रेस्पॉन्स सिस्टम) की परिघटना पर बहुत बल दिया है। ब्लूमफील्ड से पहले

भाषा का अध्ययन मुख्यतः लिखित साहित्य की भाषा के पारम्परिक विश्लेषण या ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के तौर पर होता था । अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज' (1935) में ब्लूमफील्ड ने भाषा की अवधारणा पर आधुनिक ढंग से विचार करते हुए भाषा के प्रयोग का एक व्यावहारिक उदाहरण देते हुए भाषा की सम्प्रेषण शक्ति के महत्व को उद्घाटित किया है । ब्लूमफील्ड लिखते हैं कि कल्पना कीजिए कि जैक और जिल कहीं जा रहे हैं और रास्ते में सेब का पेड़ देखकर जिल अपने फेफड़ों, स्वरयंत्र और होठों की मदद से कुछ ध्वनियों का उच्चारण कर जैक से कहती है कि उसे भूख लगी है। यह सुन कर जैक दीवार फाँद कर पेड़ पर चढ़ता है और सेब तोड़कर जिल के पास लाता है, जिसे खाकर जिल अपनी भूख मिटाती है। इस उदाहरण में जिल की बात (स्पीच) कहे जाने के पीछे की व्यावहारिक स्थिति और कहे जाने के बाद की घटनाओं का विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष निकालते हैं कि 'भाषा एक व्यक्ति को अनुक्रिया करवा सकती है जबकि क्रिया का उद्दीपन किसी और व्यक्ति को हुआ हो।'[4] समूचे प्राणी जगत में यह क्षमता केवल मानव भाषा में है और यही क्षमता समान भाषाएँ बोलने-समझने मानव समूह के प्रत्येक व्यक्ति को उस समूह के हर व्यक्ति की ताकत और कौशल का हिस्सेदार बनाती है। एक मानव समूह का एक व्यक्ति भी पेड़ पर चढ़ने का कौशल जानता है तो समूह के सभी व्यक्तियों को फल उपलब्ध हो जाएगा; एक व्यक्ति अच्छा मछुआरा है तो समूह के सभी व्यक्तियों को मछलियाँ मिल जाएंगी। ब्लूमफील्ड लिखते हैं- "श्रम का विभाजन और, इसके साथ ही मानव-समाज की समूची कार्य-प्रणाली, भाषा के ही कारण संभव होती है ।'[5] मनोभाषावैज्ञानिक स्टीफन पिंकर भी कहते हैं कि कोई भी सामान्य भाषा एक समुदाय के सदस्यों को एक सूचना-साझाकरण नेटवर्क से जोड़कर समुदाय को एक अपरिमित सामूहिक शक्ति प्रदान करती है।[6] स्पष्ट है कि यह भाषा के सम्प्रेषण गुण के कारण ही सम्भव है।

मानव के साभ्यतिक व जैविक विकास के इतिहास पर विचार करते हुए इतिहासकार मानव द्वारा संबंधों की जटिल संरचना के माध्यम से बड़े आकार के समाजों की रचना के सामर्थ्य को एक बड़ी शक्ति के रूप में देखते हैं जो शारीरिक क्षमता में मानव से कहीं अधिक सक्षम जीवों की तुलना में मानव को अधिक क्षमतावान बनाती है। मानव में यह क्षमता अपनी प्रजाति में संज्ञानात्मक क्रांति (सत्तर हजार से तीस हजार वर्ष पहले)[7] के कारण आई है । मानव अपनी भाषा में कल्पना को अभिव्यक्ति दे सकने के काबिल हुआ, मिथक व किंवदंतियाँ गढ़ने के काबिल हुआ । और इस बात ने मानव समूहों को अनेक स्तरों पर अमूर्त बंधनों से बाँधा जो केवल भोजन या संतानोत्पत्ति या सुरक्षा की मूलभूत जैविक जरूरतों से कहीं अधिक टिकाऊ और मजबूत बंधन है । इस बात को इतिहासकार **युवाल नोआ हरारी** अपनी रोचक शैली में इस प्रकार बताते हैं- "कल्पित चीजों के बारे में बात करने की सामर्थ्य सेपियंस की भाषा की सबसे अनूठी विशेषता है।...लेकिन कल्पना ने हमें महज़ चीज़ों का अनुमान लगाने में ही सक्षम नहीं बनाया है, बल्कि ***सामूहिक*** रूप से ऐसा करने में भी सक्षम बनाया है। हम बाइबल के सृष्टि-कथा जैसे आम मिथकों, ऑस्ट्रेलियाई मूल-निवासियों के ड्रीमटाइम जैसे मिथकों और आधुनिक राष्ट्रों के राष्ट्रवादी मिथकों की रचना कर सकते हैं। इस तरह के मिथकों ने बड़ी संख्या में सेपियंस को लचीले ढंग से आपसी सहयोग बरतने की अपूर्व सामर्थ्य प्रदान की। चीटियाँ और मधुमक्खियाँ भी बड़ी तादाद में साथ मिलकर काम कर सकती हैं, लेकिन वे ऐसा बहुत बेलोच ढंग से और करीबी सम्बन्धियों के साथ ही कर सकती हैं। भेड़िये और चिम्पांज़ी चीटियों के मुकाबले ज़्यादा लचीले ढंग से परस्पर सहयोग करते हैं, लेकिन वे ऐसा अपने जैसे उन थोड़े से व्यक्तियों के साथ मिलकर कर सकते हैं, जिन्हें वे करीब से जानते हैं। सेपियंस असंख्य अजनबियों के साथ बेहद लचीले ढंग से सहयोग कर सकते हैं। यही कारण

है कि सेपियंस संसार पर हुकूमत करते हैं, जबकि चीटियाँ हमारी जूठन खाती हैं और चिम्पांज़ी चिड़ियाघरों और अनुसंधान प्रयोगशालाओं में बंद होते हैं।"[8]

उपर्युक्त उद्धरण में ध्यान देने की बात यह है कि मानव में कल्पना करने की क्षमता और कल्पित विचार को अन्य मनुष्यों तक सम्प्रेषित करने की क्षमता ही मानव प्रजाति की वह शक्ति है जिसके कारण वह 'संसार पर हुकूमत करता है।' सम्प्रेषण द्वारा ही पीढ़ियों का संचित ज्ञान, अनुभव, भाव-संपदा, नैतिक मूल्य-व्यवस्था पीढ़ियों तक हस्तांतरित होता है और हर नयी पीढ़ी को पिछली से अधिक सक्षम बनाता है। भाषा का सम्प्रेषण गुण मानव प्रजाति और इसके द्वारा निर्मित व्यवस्था की बुनियाद है।

भाषा और सम्प्रेषण के संबंध पर प्रकाश डालते हुए दिलीप सिंह लिखते हैं- "भाषा को हमेशा सम्प्रेषण का साधन माना गया है, लोगों के बीच सम्पन्न होने वाला सम्प्रेषण व्यापार, जो सिर्फ और सिर्फ भाषा के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसी मान्यता के कारण भाषा एक सामाजिक यथार्थ है, सामाजिक प्रकार्य है, सामाजिक संस्था है। भाषा जैसे जटिल व्यवहार को हम सिर्फ अपने-आप से बात करने के लिए या विचारने के लिए अर्जित नहीं करते। हम इसे अर्जित करते हैं अपने को समाज से जोड़ने के लिए, सतत सम्प्रेषण क लिए।"[9] पर यह सम्प्रेषण एकायामी या एक ही स्तर का नहीं होता। इस विषय पर वे आगे लिखते हैं- "मनुष्य के विचारों का वैविध्य और उसके अनुभवों की अनेकानेक छवियाँ भाषा की संरचना और उसे जानने के विस्तार को प्रभावित करते हैं। भाषा किसी एक विषय, विचार या भाव तक सीमित नहीं होती। उसका सम्प्रेषण तंत्र असीमित और सामाजिक संरचना की भाँति वैविध्यपूर्ण होता है। इसीलिए सम्प्रेषण के एकमात्र साधन के रूप में भाषा किसी संदेश को एक बने-बनाए या निर्धारित साँचे में बाँधकर प्रस्तुत करने का यत्न नहीं करती, वह एक ही संदेश को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त करने वाली प्रणाली को अपनाती

है। वह अपने प्रयोक्ता में यह योग्यता पैदा करती है कि वह नए से नए शब्दों, पदबंधों और वाक्यों को अपनी जरूरत के मुताबिक समझ और जरूरत पड़ने पर रच सके।...मानव भाषा अनंत सीमाओं तक सर्जनात्मक होती है—नव्यता के नए-नए संरचनात्मक संयोगों को वह ईजाद करती रहती है क्योंकि उसे नए अनुभवों, नई परिस्थितियों तथा नवीन विचारों के अनुरूप अपने को ढालना पड़ता है। इस प्रकार भाषा, निरंतर विकास की प्रक्रिया का नाम है।"[10]

इन बातों से सहमत होते हुए हम यह कह सकते हैं कि भाषा में नए-नए रूपों का अन्वेषण और इसके फलस्वरूप भाषा का विकास सम्प्रेषण के उद्देश्य से होता है। न केवल सामाजिक प्रयोजनों के उद्देश्य से बल्कि भाषा के सबसे कलात्मक, सबसे सर्जनात्मक प्रयोग 'साहित्य' में भी यह उद्देश्य इसी तरह काम करता है। 'अज्ञेय' जैसे सजग भाषा-शिल्पी कवि साहित्य का सबसे प्रमुख उद्देश्य सम्प्रेषणीयता को मानते हैं और कौन कितना बड़ा कवि है, इस बात के निर्णय का आधार यह मानते हैं कि कोई किस हद तक नयी परिस्थिति को रागात्मक प्रतिक्रिया और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार द्वारा स्वायत्त कर सका है और इससे उपजी संवेदना को किस हद तक **सम्प्रेष्य** बना सका है।[11] सम्प्रेषण का अर्थ कथन के केवल शाब्दिक अर्थ या वाच्यार्थ का सम्प्रेषण नहीं है; कथन के पूरे संदर्भ, उसमें निहित भाव-विचार-संवेदना की सारी जटिलता और नवीनता, उसमें निहित चमत्कार का सम्प्रेषण भी भाषा का काम है। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में भाषा के मूल प्रश्न यानी शब्द और अर्थ के संबंध पर विचार करते हुए **अज्ञेय** काव्य में सम्प्रेषण के इसी पहलू को अधिक स्पष्ट करते हैं। एक उदाहरण के माध्यम से वे लिखते हैं-

"हम कहते हैं गुलाबी, और उससे एक विशेष रंग का बोध हमें होता है। निस्संदेह इसका अभिप्राय है गुलाब के फूल के रंग जैसा रंग; यह उपमा उसमें निहित है। आरम्भ में गुलाबी

शब्द से उस रंग तक पहुँचने के लिए गुलाब के फूल की मध्यस्थता अनिवार्य रही होगी; उपमा के माध्यम से ही अर्थ लाभ होता रहा होगा। उस समय यह प्रयोग चमत्कारिक रहा होगा। पर अब वैसा नहीं है । अब हम शब्द से सीधे रंग तक पहुँच जाते हैं; फूल की मध्यस्थता अनावश्यक है । अब उस अर्थ का चमत्कार मर गया है, अब वह अभिधेय हो गया है। और अब इससे अर्थ में कोई बाधा नहीं होती कि हम जानते हैं, गुलाब कई रंगों का होता है- सफ़ेद, पीला, लाल, यहाँ तक कि लगभग काला तक। यह क्रिया भाषा में निरंतर होती रहती है और भाषा के विकास की एक अनिवार्य क्रिया है । चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरंतर गद्य की भाषा होती जाती है ।"[12]

कविता की भाषा का निरंतर गद्य की भाषा होता जाना भाषा के विकास की एक अनिवार्य प्रक्रिया होते हुए भी अज्ञेय के अनुसार कवि के लिए समस्या ही खड़ी करती है। क्योंकि 'जब चामत्कारिक अर्थ मर जाता है और वह अभिधेय हो जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है और उस अर्थ से रागात्मक संबंध स्थापित नहीं होता ।'[13] ऐसा होने पर कवि शब्द में उस अर्थ को भरने का काम (वागर्थ-प्रतिपत्ति) करता है जिससे राग का फिर से संचार हो, फिर से रागात्मक संबंध स्थापित हो । अज्ञेय इसे ही साधारणीकरण कहते हैं । साधारणीकरण तब नहीं होता जब कवि बनी-बनाई प्रणाली पर जाने-पुराने भावों की आवृत्ति करता रहे । कवि का काम है कि कविता को पुराने की आवृत्ति न बनाकर उसे सृष्टि का गौरव प्रदान करे । नई रचना के लिए आवश्यक है कि 'कवि नए तथ्यों को उनके साथ रागात्मक संबंध जोड़कर नए सत्यों का रूप दे, उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे ।'[14] कविता नई बात कहे, नए ढंग से कहे लेकिन उसकी सफलता साधारणीकरण यानी अपने सारे सत्य और सौंदर्य के साथ पाठक या श्रोता तक

सम्प्रेषित हो सकने में ही है। यह अपने दौर के आधुनिक कवि-चिंतक का मानना है। पुराने काव्यशास्त्री भी काव्य के गुण और दोषों को परखने में अर्थ और अर्थ की रमणीयता की सम्प्रेषणीयता के साधक और बाधक तत्त्वों का ही विश्लेषण करते हैं।

भाषा सम्प्रेषण को प्रभावी तरीके से संभव बनाने के साथ ही उस ज्ञान को प्राप्त करने का साधन भी है जिसे सम्प्रेषित किया जाता है। अन्य जीवों की तरह मनुष्य को भी अपने से बाहर की प्रकृति का भान आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा से प्राप्त संवेदनों के द्वारा होता है। इस संवेदनों के आधार पर प्रकृति में अपना अस्तित्व बनाए रखने लायक अनुभव का संचय अन्य जीव भी करते हैं और अनुवांशिकता द्वारा अपनी अगली पीढ़ियों तक यह अनुभव जैविक रूप से सम्प्रेषित करते हैं। अस्तित्व बनाए रखने की यह बुनियादी शर्त है। अन्य जीवों से मनुष्य का भेद संवेदनजन्य अनुभवों को भाषा में व्यक्त ज्ञान के रूप में परिणत करने की क्षमता से है। **ज्ञान और बोध भाषा के उत्पाद हैं**। मनुष्य का समाज, उसकी सभ्यता, उसकी संस्कृति, विज्ञान की उसकी उपलब्धियाँ, और कलाओं में प्रयोग की क्षमता ज्ञान और अंततः भाषा के कारण संभव हुए हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक-वैज्ञानिक-कलात्मक मूल्यबोध को एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का साधन है भाषा। अतः मानव जीव को नागरिक या सामाजिक मनुष्य बनाने का साधन भाषा है। भाषा के द्वारा ही मनुष्य इस मूल्यों को सीखता या अर्जित करता है।

जैसे-जैसे मानव-समाज का रूप जटिल होता गया है, संबंधों के कई स्तर इसमें निर्मित होते गए हैं, साधन रूप में भाषा की भूमिका भी उतनी ही विस्तृत और सूक्ष्म होती गई है। साधन रूप में भाषा की अपार क्षमता का बोध जैसे-जैसे मानव को हुआ है, भाषा साधन के साथ ही शक्ति केंद्रित करने का उपकरण और लड़ाई का हथियार बनती गई है। भाषा की इस भूमिका पर **निर्मल वर्मा** लिखते हैं- "भाषा के बारे में कुछ भी कहना अपनी

छाया को पकड़ना है। उसके बारे में यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि हम उसकी छाया हैं, अपना यथार्थ उसमें गढ़ते हैं, अपने को उसमें और उसके द्वारा परिभाषित करते हैं।"[15] निर्मल वर्मा भाषा को व्यक्ति के आत्म-उत्खनन का आयुध कहते हैं। आत्म-उत्खनन तभी संभव है जब आत्मबोध हो। **भाषा आत्मबोध का साधन है, तभी इसके द्वारा आत्म-उत्खनन भी संभव होता है।**

भाषा सम्प्रेषण का माध्यम होने के साथ-साथ संस्कृति की वाहक होती है, निर्मल वर्मा भाषा की इस भूमिका पर विचार करते हुए लिखते हैं- "भाषा चाहे कोई भी हो, उसका दुहरा चरित्र होता है। वह सम्प्रेषण का माध्यम होने के साथ-साथ संस्कृति का वाहक भी होती है। किसी देश की संस्कृति ऐतिहासिक झंझावातों द्वारा क्षत-विक्षत भले हो जाए, उसका सत्य और सातत्य उसी भाषा में बचा रहता है।"[16] भाषा संस्कृति का वाहक है, इतिहास के झंझावातों से संस्कृति के अन्य चिह्न भले मिट जाएँ लेकिन भाषा के शब्द, अर्थ की परम्परा, मुहावरे, गीत आदि भाषिक तत्त्व जो कई-कई पीढ़ियों के सामूहिक अनुभवों से बने होते हैं, वे अपने होने मात्र में एक भाषायी समाज विशेष के वर्तमान को उसके अतीत से अवचेतन के स्तर पर जोड़े रहती है और उसकी निजी सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखती है। इसे स्पष्ट करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं- "जिसे हम संस्कृति का सत्य कहते हैं वह और कुछ नहीं, शब्दों में अंतर्निहित अर्थों की संयोजित व्यवस्था है और जिसे हम 'यथार्थ' कहते हैं, वह इन्हीं अर्थों की खिड़की से देखा गया वाह्य जगत है।"[17] इस तरह निर्मल वर्मा भाषा को 'भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ के बीच का सेतु' मानते हैं। भाषा की बारीक कार्यप्रणाली संबंधी निर्मल वर्मा की ये बातें बीसवीं शताब्दी में हुए भाषा-संबंधी महत्वपूर्ण शोध और क्रांतिकारी अवधारणाओं का निचोड़ है। मानव को समाज, राष्ट्र तथा इससे भी बड़ी इकाई में जोड़ने का साधन भाषा है और मनुष्य के आत्म, उसकी

अस्मिता को भी भाषा ही निर्मित करती है, इस तरह भाषा ही वह सॉफ्टवेयर है जिससे मनुष्य स्वयं और मनुष्य का भाषानिर्मित विश्व काम करता है। प्रसिद्ध आलोचक **टेरी ईगल्टन** भी इसी अर्थ में मनुष्य के 'वर्ल्ड' को अन्य पशुओं के 'फिजिकल स्पेस' से अलग मानते हैं।[18] अन्य पशु प्रकृति-प्रदत्त भौतिक स्पेस में प्रकृति के नियमों को मानते हुए जीवन-निर्वाह करते हैं, लेकिन मनुष्य उसी भौतिक स्पेस को अपने हिसाब से ढालता और सँवारता या नष्ट करता है। यह सब इसलिए हो पाता है क्योंकि भाषा मनुष्य को कल्पना करने और विचारने की 'फैकल्टी' प्रदान करती है। अतः मनुष्य की सीमा प्रकृति के नियम नहीं बल्कि भाषा के नियम हैं। इस सत्य को आधुनिक भाषाचिंतक और दार्शनिक लुडविग विट्गेंस्टाइन ने सूत्ररूप में कहा है- "भाषा विषयक मेरी सीमाओं का तात्पर्य है संसार विषयक मेरी सीमाएँ।"[19] इसी बात को निर्मल वर्मा ने अपनी सर्जनात्मक भाषा में कहा है- "जिस तरह बाहरी दुनिया भाषा की बंदी है, वैसे ही हम भाषा के बंदी हैं—खिड़की और खिड़की के बाहर देखा गया परिदृश्य एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। विट्गेंस्टाइन की उपमा का सहारा लें, तो कहेंगे कि भाषा की दीवारों से टकराकर जब माथे पर गोमड़ पड़ते हैं, तभी हमें अपने बंदी होने का बोध होता है। किंतु भाषा की इन 'दीवारों' के भीतर ही कोई संस्कृति अपनी निजी पहचान अर्जित करती है। मानवीय भाषाओं में एक तरह का स्थैर्य और स्थायित्व रहता है जिसके परिणामस्वरूप ही मनुष्य को अपनी अस्मिता के गढ़ने का अवकाश मिल जाता है।"[20] इस तरह भाषा न केवल मनुष्य के ज्ञानप्राप्ति का साधन है, बल्कि वह उसकी संस्कृति की निर्मात्री और वाहक है तथा उसकी अस्मिता है।

भाषा जब इतना कुछ है, तब भाषा पर नियंत्रण के माध्यम से मनुष्य निर्मित संसार पर नियंत्रण भी स्थापित किया जा सकता है। इस रूप में भाषा साधन से आगे बढ़कर साध्य हो जाती है। संसार को साधने के लिए भाषा को साधना आवश्यक है। साध्य रूप में भाषा

का अर्थ है भाषा को जानना। भाषा की प्रकृति के प्रति सजग चिंतन और भाषा-प्रयोग की उत्कृष्टता तक पहुँचने के प्रयास भाषा को साध्य बनाते हैं। साधन रूप में भाषा से अधिकाधिक लाभ लेने के लिए भाषा को साध्य रूप में अर्जित करना पड़ता है। अतः मनुष्य की ज्ञानमीमांसा का आरम्भ भाषा-अर्जन, भाषा-चिंतन के साथ होता है और इसकी परिणति भी भाषा में होती है। भाषा की अवधारणा पर हुए प्राचीन या आधुनिक चिंतन में साध्य रूप में भाषा की भूमिका मानवशास्त्रों की अन्यतम उपलब्धि है। पाठवादी आलोचना से लेकर विमर्शवादी चिंतन में रचना की भाषा, स्त्री-भाषा, दलित-भाषा आदि की अवधारणाएँ जो इनसे संबंधित हमारी समझ को अधिक विस्तृत और साफ बनाती हैं, भाषा के साध्य रूप में अध्ययन का परिणाम हैं। और इनसे यह सिद्ध होता है कि भाषा सम्प्रेषण का माध्यम है, पर उससे जटिल स्तर पर वह समस्त ज्ञान को निर्मित करने और निर्मित ज्ञान को अर्जित करने का साधन है, और इससे भी जटिल स्तर पर भाषा साध्य है जिससे साधकर ज्ञान-निर्माण या विश्व-निर्माण की प्रक्रिया में हस्तक्षेप किया जा सकता है।

2. भाषा : विचार और चिंतन-प्रक्रिया का परिप्रेक्ष्य

आधुनिक काल यानी उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में भाषा पर ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हुए कार्यों के प्रमुख उद्देश्यों में भाषा को प्राकृतिक या ईश्वरप्रदत्त व्यवस्था मानने की पुरानी धारणा का निषेध है। साथ ही मानव मन को भाषा का उत्पत्ति स्थल सिद्ध करने का काम भी आधुनिक भाषा-चिंतकों ने किया है। मानव मन को भाषा का उत्पत्ति स्थल मानने से मानव-चेतना और मानव-मन की विचार प्रणाली पर भी वैज्ञानिक ढंग से विचार कर भाषा की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है।

अठारहवीं सदी के जर्मन दार्शनिक, भाषाशास्त्री व एथनोलिंग्विस्टिक्स के प्रणेता विल्हेम वॉन हम्बोल्ट (1767-1835) ने भाषा और मानसिक क्रियाओं के अंतर्सम्बन्ध से

जुड़े ऐसे विचार सामने रखे जिसने बीसवीं सदी के भाषा-चिंतकों को बहुत प्रभावित किया। हम्बोल्ट ने भाषा को कोई पूर्ण या जड़ (dead) वस्तु मानने की जगह इसे मस्तिष्क की एक गतिविधि (एक्टिविटी) माना है-

"Genetically, language is a work of mind directed to a specific purpose."[21]

"We must look upon language, not as a dead product, but far more as a producing, must abstract more from what is does as designator of objects and instrument of understanding, and revert more carefully, on the other hand, to its origin, closely entwined as it is with inner mental activity, and to its reciprocal influence on the latter."[22]

हम्बोल्ट ने मनुष्य में एक मानसिक शक्ति या क्षमता (मेंटल पावर) की बात कही है जिसके द्वारा मनुष्य भाषा और इसके भीतर सांस्कृतिक-सामाजिक नियमों-मूल्यों को गढ़ सकता है। नियमों-मूल्यों-विचारों को अपने ठीक पूर्ववर्ती आधुनिक दार्शनिकों की तरह वे पहले से ही माइंड में स्थित 'एसेंस' की तरह नहीं देखते हैं। मानव-समाज की कई पीढ़ियों के द्वारा खास उद्देश्य के लिए रची भाषा में वे नियम-मूल्य-विचार आदि को स्थित मानते हैं जो आने वाली पीढ़ियों की विश्वदृष्टि को आकार देती है। इस तरह भाषा मानव द्वारा रची जाती और साथ ही मानव को उस तरह रचती है, जैसा वह है। हम्बोल्ट बुद्धि (इंटेलेक्चुएलिटी) और भाषा को एक-दूसरे से अविभाज्य मानते हैं।[23]

इन्होंने तर्क दिया कि भाषा एक ऐसी गतिविधि है जो अपने चरित्र और अपनी संरचना के माध्यम से भाषा-विशेष को बोलने वाली जाति (नेशन, पीपुल) की संस्कृति और व्यक्तित्व

(इंडिविजुएलिटी) को अभिव्यक्त करती है।* इन्होंने यह भी कहा कि प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्यतः भाषा के माध्यम से ही संसार का बोध प्राप्त करता है।[24]

अमेरिकी नृतत्त्ववेत्ता और भाषावैज्ञानिक एडवर्ड सपीर (1884-1939) भाषा को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि भाषा विचारों, भावनाओं, इच्छाओं को सम्प्रेषित करने की एक स्वेच्छिक प्रतीक-व्यवस्था की प्रणाली है जो पूरी तरह से मानवीय और असहजात होती है।[25] जब सपीर भाषा को पूरी तरह से मानवीय कहते हैं तो उनका आशय यह है कि भाषा का प्रत्येक तत्व मानव मन की रचना है, मानवीय कल्पना-शक्ति की सृष्टि है न कि मानवीय अस्तित्व से बाहर की कोई प्राकृतिक वस्तु है।[26] सपीर के अनुसार- भाषा प्रतीकों की व्यवस्था है; यह अपनी तरह की एक अकेली व्यवस्था है; भाषा शुद्ध रूप से मानव समुदाय विशेष की ऐतिहासिक विरासत है; यह दीर्घ अवधि तक क्रमिक रूप से विकसित सामाजिक व्यवहार का उत्पाद है; व्यक्ति-विशेष द्वारा बोली जाने वाली भाषा एक 'अर्जित सांस्कृतिक कर्म' है। भाषा के विषय में सपीर को ये निष्कर्ष इस अवलोकन से प्राप्त होते हैं कि भाषा **सचेत** प्रयास से निर्मित एक व्यवस्था है। किसी भी प्रकार के अनायास शोर को सपीर भाषा नहीं मानते- Involuntary, instinctive cries are not at all language.[27]

भाषा को प्रतीक व्यवस्था मानते हुए सपीर कहते हैं कि वस्तुओं और सम्बन्धों के लिए भाषिक प्रतीकों का हमारा भंडार संसार के बीच हमारे अनुभवों से बनता है। हमारे अनुभवों का संसार सामान्यीकृत और सरलीकृत होना चाहिए तभी उसके प्रकटीकरण के लिए प्रतीकों से भरी भाषा का बनना संभव है तथा उसमें मानव-समूह द्वारा विचारों का आदान-प्रदान संभव है। सपीर कहते हैं कि व्यक्तिगत अनुभवों से भाषा नहीं बनती है बल्कि समूचे समूह तथा समूह के सभी वर्गों के सामूहिक सामान्य अनुभवों तथा सामूहिक चेतना

से बनती है।[28] भाषा के होने में चेतना का योगदान तथा चेतना को उत्तरोत्तर विकसित करने में भाषा की भूमिका के द्वंद्वात्मक संबंध को सपीर ने माना है। वे भाषा को साधन (instrument) और विचार को उसका उत्पाद (product) मानते हैं और कहते हैं कि यह साधन ही उत्पाद को संभव करता है तथा उत्पाद साधन को निखारता है।[29]

आम धारणा यह है कि विचार, अवधारणाएँ, मान्यताएँ पहले से ही मौजूद होती हैं और मनुष्य भाषा सीख कर उच्चरित या लिखित रूप में औरों पर उन्हें प्रकट करता है। भाषा को केवल माध्यम मानने के पीछे यह आम धारणा काम करती रही है। सपीर कहते हैं कि इस धारणा के पीछे एक गलतफहमी काम करती है जो इमेजरी और थॉट के बीच अंतर नहीं करती। भाषा के बिना सोचना संभव है, ऐसा मानने वाले लोग इमेजरी को भी थॉट मान लेते हैं। **सपीर उन विद्वानों में हैं जो मानते हैं कि बिना भाषा के विचार या चिंतन-प्रक्रिया संभव नहीं है** । सपीर का यह भी मानना है कि व्याकरण के नियम व्यक्ति की चेतना का नियमन करते हैं । हर भाषा का अपना एक विशिष्ट व्याकरण है और बिना उस व्याकरण के नियमों का पालन किए भाषा में कोई क्रियाकलाप संभव नहीं, अतः भाषा को बोलने वाले मनुष्यों की यह बाध्यता होती है कि उसके दायरे में ही सोच और समझ सकते हैं । स्पष्ट है कि सपीर भाषा को विचार की पोशाक मानने के हिमायती नहीं है । हालांकि अपनी मान्यता को ही वे अंतिम सत्य की तरह नहीं पेश करते और इस संभावना पर विचार करते हैं कि भाषा विचार का पोशाक होने से अधिक एक बना-बनाया रास्ता (prepared road or groove) है।[30]

विचार और चिंतन-प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में भाषा की अवधारणा को समझने के क्रम में हम भाषा और मन के संबंध के साथ-साथ भाषा और समाज, भाषा और संस्कृति, भाषा और विश्व-दृष्टि के संबंधों पर हुए अध्ययन की तरफ मुड़ते हैं। मानव-मन की निर्मिति

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों तथा अपने भीतरी-बाहरी संसार के बोध की समाज-विशेष की विशिष्ट दृष्टि से होती है। आधुनिक भाषा-चिंतकों ने माना है कि यह विशिष्ट दृष्टि भाषा की सृष्टि है। अलग-अलग भाषाओं में दुनिया को देखने-समझने की अलग-अलग दृष्टियाँ या सेंस हैं। यानी हर भाषा एक अलग विश्वदृष्टि है। भाषा विज्ञान में इस दृष्टि से हुए अध्ययन को सपीर-व्होर्फ हाइपोथीसिस कहा जाता है। आपस में गुरू-शिष्य, तीन पीढियों के विद्वान फ्रैंज़ बोआज, एडवर्ड सपीर और बेंजामिन ली व्होर्फ़ ने भाषा, विचार और धारणा (Language, thought and perception) अंतर्संबंध पर गम्भीर चिंतन किया । उनके चिंतन से महत्वपूर्ण बिंदुओं को लेकर सपीर के ही एक अन्य शिष्य भाषाचिंतक हैरी होज़र ने 1954 में 'सपीर-व्होर्फ हाइपोथीसिस' को पहली बार प्रस्तुत किया जिसकी मूल मान्यता यह है कि **भाषा सामाजिक व्यवहार का एक पक्ष या साधन भर नहीं है बल्कि मानव की चेतना को निर्मित करती है और उसको नियंत्रित करती है** । अर्थात् लोगों की सोच, सोचने का ढंग उनकी भाषा में पहले से उपलब्ध ढाँचों द्वारा नियंत्रित होता है।[31] बेंजामिन ली. व्होर्फ ने अंगेजी भाषा में समय की एकरेखीय अवधारणा तथा होपी भाषा में समय की चक्रीय अवधारणा का उदाहरण देकर दोनों भाषाओं के बोलने वालों की विश्वदृष्टि के अंतर में भाषा की भूमिका को रेखांकित किया है।[32]

भाषा और चेतना के सम्बन्ध पर मनोविज्ञान के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवादियों ने महत्वपूर्ण काम किया है। सिगमंड फ्रायड ने मन (माइन्ड) के तीन स्तर बताए हैं- अवचेतन, उपचेतन तथा चेतन ।[33] मान्यताओं, धारणाओं, सोच-विचार करने की प्रक्रिया से जुड़ा स्तर मन का चेतन स्तर है। उपचेतन स्तर चेतन से ठीक पहले का स्तर है जहाँ स्मृतियाँ रहती हैं तथा चेतन के काम में आने के लिए तैयार रहती हैं। अवचेतन स्तर पर मनुष्य की सहजात प्रवृत्तियाँ, दमित भावनाएँ व भय-स्वार्थ आदि का वास होता है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य

के स्वभाव व व्यवहार का प्राथमिक स्रोत अवचेतन मन ही होता है। इस अवचेतन मन का भाषा से बहुत गहरा सम्बन्ध है। भाषा को संकेत-व्यवस्था मानने वाले फर्डिनांड द सस्यूर से बहुत प्रभावित मनोविश्लेषक जैक्स लकाँ ने अवचेतन तथा भाषा के संबंध पर महत्वपूर्ण काम किया है। लकाँ की प्रसिद्ध स्थापना है कि 'अवचेतन की संरचना भाषा की संरचना जैसी है (the unconscious is structured like language)। अपने महत्वपूर्ण लेख 'The Function and Field of Speech and Language' में लकाँ कहते हैं कि अवचेतन व्यक्ति (सब्जेक्ट) के निजी इतिहास की रचना करता है और व्यक्ति के चेतन में इस इतिहास के सेंसर्ड रूप को ही प्रस्तुत करता है (unconscious represents a gap, a censored chapter.)। व्यक्ति की बातें (स्पीच/भाषा) इस सेंसर्ड इतिहास के भीतर दबे पूरे सत्य को पुनः आविष्कृत करने का प्रयास हैं (speech is the subjects attempt to rediscover the truth.) लकाँ का मानना है कि मनुष्य की देह उसके सत्य को वहन करती है। जब व्यक्ति भाषा में अपने को व्यक्त करने का प्रयास करता है तब देह के अनुभव मानो एक पासवर्ड की तरह खुल जाते हैं और सत्य सतह पर आ जाता है। इस तरह **लकाँ व्यक्ति मन से भाषा का गहरा सम्बन्ध सिद्ध करते हैं और भाषा को केवल विचारों के आदान-प्रदान के बाह्य उपकरण के बजाय मानव देह और मन की प्रक्रियाओं को नियंत्रित करने वाली वस्तु बताते हैं**। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि भाषा के शब्द मानवता (मानव-चेतना, मानव- अस्तित्व का बोध) के आरम्भ से ही रहे हैं क्योंकि मानव-समुदाय भाषा बोल ही इसीलिए पाता है क्योंकि मानवता का निर्माण ही भाषिक संकेतों व प्रतीकों से हुआ है।[34]

बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में एक नये विज्ञान का जन्म हुआ जिसे आगे चलकर 'संज्ञानात्मक विज्ञान' (Cognitive Science) कहा गया। भाषा और विचार या चेतना

के संबंध पर इस नये विज्ञान में बहुत काम हुआ है। यह विज्ञान मानव-बुद्धि की कार्यप्रणाली की व्याख्या करने के लिए मनोविज्ञान, कम्प्यूटर विज्ञान, भाषा विज्ञान, दर्शन शास्त्र और न्यूरोबायोलॉजी के उपकरणों का संश्लिष्ट प्रयोग करता है। भाषा को मानव-देह और दिमाग का भौतिक हिस्सा मानने वाले संज्ञानात्मक भाषा-चिंतकों में नोम चॉमस्की का नाम अग्रगण्य है। चॉम्स्की भाषा और मन का संबंध इतना गहरा मानते हैं कि भाषाविज्ञान को मनोविज्ञान का हिस्सा मानते हैं।[35] वे भाषा को मानव-प्रजाति की अनुवांशिक विशेषता मानते हैं तथा मनुष्य के मस्तिष्क में एक भाषा-अर्जक संरचना (लैंग्वेज-एक्विजीशन डिवाइस) का अस्तित्व मानते हैं। उनके अनुसार इस लैंग्वेज एक्विजीशन डिवाइस के ही कारण मनुष्य अपने विकास-क्रम में विभिन्न प्रकार की भाषाएँ सीख पाता है। चॉम्स्की लिखते हैं-

"Each language is the result of the interplay of two factors: the initial state and the course of experience. We can think of the initial state as a 'language acquisition device' that takes experience as "input" and gives the language as an "output"—an output that is internally represented in the mind/brain."[36]

अमेरिकी-कनाडियन मनोभाषावैज्ञानिक **स्टीफन पिंकर** ने भाषा और विचार-प्रक्रिया के संबंध पर विचार करते हुए कहा है कि **मानव-मस्तिष्क में भाषा के द्वारा किसी भी विचार या दृश्य की स्थापना की जा सकती है यानी हम भाषा मनुष्य भाषा के माध्यम से एक-दूसरे के मस्तिष्क में सत्य से इतर घटनाओं को भी उत्कृष्ट सटीकता (exquisite precision) के साथ आकार दे सकते हैं**।[37] भाषा मानव के अस्तित्व में इतनी गहराई से बुनी गई है कि इसके बिना मानव की मानव रूप में कल्पना

नहीं की जा सकती। भाषा को परिभाषित करते हुए पिंकर ने कहा है- "language is not a cultural artefact that we learn the way we learn to tell time or how the federal government works. Instead, it is a distinct piece of the biological makeup of our brains."[38] यानी भाषा मानव मस्तिष्क की जैविक बुनावट का हिस्सा है, इसे कौशल या तथ्य की तरह सीखा नहीं जा सकता।

भाषा मानवीय विचारों, भावनाओं, कल्पनाओं और सपनों को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करने के साधन, समाज को चलाने वाली शक्ति होने के साथ-साथ इनके निर्माण कारण भी है। **भाषा विचार का वाहन ही नहीं, उसकी जननी भी है और उसकी पोषक भी पर साथ ही विचार द्वारा वह पोषित भी होती है। अतः हम पाते हैं कि भाषा और विचार में अन्योन्याश्रित संबंध है, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं समझा जा सकता।**

3. भाषा : कला और सौंदर्यबोध का परिप्रेक्ष्य

मनुष्य के मानसिक व्यापारों की सटीक या सुनिश्चित परिभाषाएँ बताना कठिन है, पर इसके प्रयास होते रहते हैं, अतः कला, सौंदर्य, विचार आदि के लक्षण कई प्रकार से किए जाते रहे हैं। वामन शिवराम आप्टे के 'संस्कृत-हिंदी कोश' के अनुसार किसी वस्तु के छोटे टुकड़े को, चंद्रमा की रेखा को, मूलधन पर लिए गए ब्याज को, विभिन्न प्रकार से आकलित समय के एक प्रभाग को 'कला' कहते हैं; साथ ही कुशलता या मेधाविता को भी कला कहा गया है; जालसाज़ी और धोखादेही को भी कला कहा गया है; साथ ही संगीत, नृत्य, शिल्पकला आदि मनुष्य के क्रियाकलापों को भी कला कहा गया है।[39]

'कला' के शब्दकोशीय अर्थों के बीच संगति बैठाते हुए 'हिंदी साहित्य ज्ञानकोश में अवधेश कुमार सिंह ने लिखा है- "कला का अर्थ अंश से सम्पूर्ण को व्यक्त करना है। कलाकार अपनी कला में संकेत, ध्वनि, सुझाव और व्यंजना का प्रयोग करता है। एक अन्य तरह से 'क' का अर्थ 'सौंदर्य', 'प्रसन्नता', 'आनन्द' तथा 'कामदेव' होता है और 'ल' का अर्थ देना होता है। अर्थात् कला वह है जो सौंदर्य की अभिव्यक्ति के द्वारा आनंद प्रदान करती है—'कं लाति ददातीति कला।'कह सकते हैं कि कला का कलात्व सम्पूर्ण की अभिव्यक्ति में नहीं बल्कि अंश से सम्पूर्ण या अनंत का संकेत करने की क्षमता में है।"[40]

औचित्य सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक क्षेमेंद्र ने अपने सूत्र 'कलयति स्वरूप आवेशयति वस्तूनि वा' के द्वारा कहा है कि किसी वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत करने वाले गुण को कला कहते हैं।[41] मानव जीवन में कला के महत्व को स्थापित करते हुए भर्तृहरि ने अपने 'नीतिशतक' में कहा है कि साहित्य, संगीत और कला से रहित मनुष्य सींग-पूँछ विहीन पशु है।[42] इसका तात्पर्य यह हुआ कि **कला वह मानसिक व्यापार है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है, जैसे भाषा मनुष्य को अन्य जीवों से अलग बनाती है**। प्राचीन से लेकर आधुनिक आर्शनिकों, साहित्यकारों, ललित कलावंतों ने 'कला क्या है' पर अपने-अपने तरीके से विचार किए हैं।

सौंदर्य और सौंदर्यबोध की भी अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध हैं। 'मन को प्रसन्न या आर्द्र करने वाले गुण' को सौंदर्य कहा गया है।[43] जिस शारीरिक मानसिक प्रक्रिया से जगत् में सुंदर के संपर्क में आने से मन प्रसन्न या आर्द्र होता है, वह सौंदर्यबोध की प्रक्रिया है। यानी सौंदर्य का संवेदन सौंदर्यबोध है। सौंदर्यबोध अपनी प्रकृति में ऐंद्रिक क्रिया है अर्थात् इसका संबंध मनुष्य की पाँचों ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त संवेदनों- दृश्य, श्रवण, गंध, स्पर्श तथा स्वाद से है। परंतु मनुष्य की चेतना और तज्जन्य सभ्यता के विकास के साथ-साथ सौंदर्यबोध का

दायरा भी बढ़ा है, जैसा कि आलोचक शंभुनाथ ने लिखा है- 'एक तरह से सभ्यता का विकास मनुष्य की सौंदर्य भावना का विकास है।'[44] इस विकास क्रम में सौंदर्यबोध ऐंद्रिक से मानसिक या भौतिक से भाषिक होता गया है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने कला और सौंदर्यबोध को विचारों से अधिक मनुष्य के इंद्रियबोध और उसके भावों से जोड़ा है। सौंदर्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है- "प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायक गुण का नाम सौंदर्य है।"[45] सौंदर्यबोध को उन्होंने मनुष्य के सामाजिक जीवन का ही परिणाम नहीं मानते बल्कि इससे बहुत पहले उसके प्राग्मानवीय विकास से मानते हैं। इसी तरह कला के विषय में उनका कहना है- "कला का सार्वजनीन आधार मनुष्य का इंद्रियबोध और उसके भाव हैं। इनका उद्गम मनुष्य के सामाजिक जीवन से भी पहले है।"[46] सौंदर्य, सौंदर्यबोध और कला की क्षमता मनुष्य में उसकी चेतना के उन स्तरों में है जो पूर्णतः भाषा द्वारा निर्मित तथा नियंत्रित नहीं है। यही कारण है कि **कलाओं की भाषा और भाषा की कलात्मकता शुद्ध अमूर्त स्तर पर नहीं होती। कला के रूप में भाषा भी मूर्त वस्तु की तरह व्यवहृत होने लगती है, जैसे नाद-संगीत उत्पन्न करने के लिए ध्वनियों का विशेष संयोजन, जो अर्थ-सम्प्रेषण का साधन भर न होकर स्वयं साध्य है**।

'लैंग्वेज एंड परसेप्शन' सिद्धांत के तहत हुए अध्ययनों के अनुसार इंद्रियों से प्राप्त संवेदनों का अर्थ भाषा द्वारा निर्धारित होता है। आँखों द्वारा देखा गया दृश्य सुंदर प्रतीत होगा या असुंदर, इसका विश्लेषण मस्तिष्क की भाषिक क्षमता द्वारा होता है। भाषा बोध को आकार प्रदान करती है। हालांकि यह प्रक्रिया दो-तरफा होती है। इंद्रियों से प्राप्त संवेदनों के बोध को भाषा द्वारा आकार दिया जाता है और साथ ही भाषा की बिम्बधर्मिता इन संवेदनों द्वारा निर्धारित होती है।[47] भाषा में सम्पन्न होने वाला कलात्मक व्यापार साहित्य

है। साहित्य में कलात्मकता प्रथमतः बिम्बधर्मी साहित्य रूपों के स्तर पर होती है और उसके बाद विचारप्रधान साहित्य रूपों में, जिनमें तर्क से उत्पन्न बौद्धिक आनंद प्राप्त होता है।

कला और सौंदर्यबोध के दृष्टिकोण से भाषा का प्रयोग मनुष्य की आदिम कल्पनाओं को उद्बुद्ध करने के लिए भी होता है। केदारनाथ सिंह ने इस संबंध में लिखा है- "आदिम मनुष्य की भाषा अभिव्यक्ति के साधनों की दृष्टि से बहुत सम्पन्न नहीं थी। उसके पास सोचने के लिए न तो उपयुक्त पारिभाषिक शब्द थे न अज्ञात-अनुद्घाटित अनुभूतियों को प्रेषित करने के लिए ठीक-ठीक 'नाम'। सच बात तो यह है कि उसके पास स्पष्ट विचार भी नहीं थे, क्योंकि उसका 'सोचना' और 'अनुभव' करना—ये दोनों भिन्न क्रियाएँ नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि उसने अपनी दैनिक व्यवहार की भाषा में अपने समस्त अनुभवों, विचारों, कल्पनाओं, स्मृतियों और मानसिक प्रतिमाओं को रूपाकार देने के लिए एक ऐसा मिला-जुला ढाँचा तैयार किया जो काव्य और धर्म , दोनों के बीच की वस्तु कहलाने का अधिकारी हुआ। बाद के साहित्य में इन आदिम कल्पनाओं का प्रचुर प्रयोग हुआ।"[48] मनुष्य का सारा विकास एक से अनेक, संश्लिष्ट से विशिष्ट की तरफ प्रेरित होता है। मनुष्य की कला चेतना और उसके मानसिक क्रियाकलाप भी इस प्रक्रिया के तहत विकसित हुए हैं। 'सोचना' और 'अनुभव करना' समय के साथ मनुष्य की दो भिन्न क्रियाएँ हो चलीं। इसी तरह इंद्रियबोध से प्राप्त संवेदनों को उनके देश-काल से बाहर भी कलाओं के रूप में प्रत्यक्षीकरण कराने की क्षमता उसने अर्जित की। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को भाषा के विकास के साथ जोड़ते हुए केदारनाथ सिंह ने लिखा है- "मनोविज्ञान के अनुसार ऐंद्रियबोध का जब अर्थ (मीनिंग) के साथ संबंध हो जाता है तो उसे प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। अर्थात् ऐंद्रिय-बोध अथवा संवेदना अर्थबोध के पूर्व की स्थिति है और प्रत्यक्षीकरण अर्थबोध के

बाद की। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया का भाषा के विकास के साथ बहुत गहरा संबंध है।"[49]

कलाओं के लिए आवश्यक इंद्रिय संवेदन भाषा के बिना भी होते हैं। लेकिन इनकी अभिव्यक्ति भाषा के बिना इसलिए नहीं हो सकती कि हर कलात्मक अभिव्यक्ति कई संवेदनों में से एक या कुछेक के चयन द्वारा संभव होती है। चयन के लिए संस्कार, स्मृति और मूल्यबोध जिम्मेदार होते हैं जो भाषा के बाहर अस्तित्व नहीं रखते। केदारनाथ सिंह कला के लिए भाषा की आवश्यकता को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "भाषा का संबंध स्मरणशक्ति से है। वस्तु के गुणों को याद करने तथा उसके सूक्ष्म भेदों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमें अधिक-से-अधिक शब्दों का ज्ञान हो। शब्द के बिना हम केवल स्थूल वस्तु तक पहुँच सकते हैं। उसकी सूक्ष्मता में जाने के लिए उपयुक्त शब्द की सहायता अनिवार्य है।"[50]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कला तथा सौंदर्यबोध में अन्योन्याश्रित संबंध है और इनके अनुभव तथा अभिव्यक्तिकरण में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका है। **भाषा कला का माध्यम भी है, स्वयं कला है और कला के आस्वाद का कारण भी है**। कला की उत्पत्ति और कला का सचेत आस्वाद चेतनता के बिना सम्भव नहीं है। और यह चेतनता भाषा के ही माध्यम से अभिव्यक्त होती है। भाषा की अवधारणा में कला और सौंदर्यबोध का परिप्रेक्ष्य मुख्यतः बिम्बधर्मी साहित्य रूपों से संबद्ध है। गीत, कविता आदि में संश्लिष्ट बिम्ब उपस्थित करना या अनुप्रासादि के माध्यम से शब्दों द्वारा कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करना भाषा का एक बड़ा गुण है। काव्यशास्त्र में अलंकारों का सारा विधान भाषा की इस क्षमता के कारण हुआ है।

4. भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिंतन-परम्परा में भाषा

क. भारतीय चिंतन-परम्परा में भाषा

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भाषा पर चिंतन की परम्परा तीन क्षेत्रों में मिलती है— व्याकरण की परम्परा में, दर्शन की परम्परा और काव्यशास्त्रीय परम्परा में। भारतीय ग्रंथों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद में 'वाक्' केंद्रित कई श्लोक ही नहीं मिलते बल्कि भाषा के सुंदर-सुघड़ प्रयोग की युक्तियाँ भी अपने प्रारम्भिक रूप में मिलती हैं, जिनके विश्लेषण द्वारा विद्वान अनुमान लगाते हैं कि ऋग्वेद से भी पहले भाषा पर व्याकरणिक तथा सौंदर्यशास्त्रीय ढंग से सचेत चिंतन करने की परम्परा या व्यवस्था रही होगी।

ऋग्वैदिक समाज भाषा की महिमा के स्वीकार में आज के समाज से अधिक जागरुक दिखता है। बहुत-ही अलंकृत काव्यात्मक भाषा में इसके मंत्रों में यह बात कही गई है कि **सृष्टि 'वाक्' द्वारा रचित है**। ऋग्वेद के पैंतालीसवें मंत्र मे कहा गया है कि 'वाक्' चार प्रकार के हैं, जिनमें से तीन अव्यक्त और चौथी व्यक्त है जिसे मनुष्य बोलते हैं। इसके 10।125वें सूक्त को 'वाक् सूक्त' कहा जाता है, जिसमें वाक् को प्रेरिका शक्ति, सर्जिका शक्ति, पालिका शक्ति और संहारिका शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। भाषा की प्रेरिका शक्ति को आधुनिक भाषा वैज्ञानिक ब्लूमफील्ड ने भी भाषा के एक मुख्य लक्षण के तौर पर देखा है तथा इसे मानव समाज की सामूहिक शक्ति का कारक माना है। शब्द और अर्थ के संबंध का समुचित ज्ञान भी ऋग्वेद में आवश्यक माना गया है। इसके एक मंत्र में कहा गया है कि जो व्यक्ति शब्द और अर्थ के संबंध को ठीक-ठीक जानता है, उसी को वेदार्थ की साझेदारी मिलती है और जो नहीं जानता उसके लिए यह ज्ञानराशि एक जीती-जागती गऊ न रहकर मायाजाल की एक गऊ रह जाती है, जिसे वह खड़ा तो कर सकता है लेकिन उससे दूध नहीं पा सकता।

ऋग्वेद में भाषा या 'वाक्' के संबंध में जितनी बातें कही गई हैं, उनसे निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वैदिक चिंतकों की भाषा या वाक् संबंधी समझ इस प्रकार थी[51]-

- वाक् ज्ञान का माध्यम है।
- परिशुद्ध वाक् (भाषा की व्याकरणिक व उच्चारणगत शुद्धता) महत्वपूर्ण है।
- वाक् को समर्थ होना चाहिए। समर्थ वाक् का अर्थ है अर्थगर्भित वाक्। यानी जिस वाक् में अर्थ गाम्भीर्य है , वही समर्थ वाक् है।
- वाक् चिंतन जैसे-जैसे बढ़ेगा, वैसे-वैसे ज्ञान गाम्भीर्य भी आएगा।
- वाक् मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है।

वैदिक वांङ्मय में मन और भाषा अर्थात् विचार और वाणी के अंतर्संबंध भी पर प्रकाश डाला गया है। जगत् का बोध मन को भाषा के माध्यम से होता है, इसकी धारणा वैदिक चिंतन में मौजूद है। आधुनिक भाषा विज्ञान में सपीर-व्होर्फ हाइपोथीसिस भी मन और भाषा के अंतर्संबंध का अध्ययन विश्वदृष्टि के संबंध में करता है।[52] ऋग्वेद के ऋषियों की भाषा-संबंधी समझ बहुत कुछ आधुनिक समझ से मिलती है। लेकिन **ऋग्वेद में वाक् के प्रति दृष्टिकोण आध्यात्मिक है, अतः इसे मनुष्य की निर्मिति व मनुष्य द्वारा नियंत्रित वस्तु या व्यवस्था न मानकर मनुष्य को नियंत्रित करने वाली ईश्वरीय शक्ति के तौर पर देखा गया है**। कहा गया है कि वाणी के मर्म को वही जान सकता है जिस पर वाणी अपना मर्म स्वयं उद्घाटित करे।[53]

वेद-मंत्रों का पाठ वैदिक मनुष्य के जीवन का महत्वपूर्ण अंग था और वेदों का पाठ उच्चारण और अर्थग्रहण की दृष्टि से विशुद्ध न होना अमंगलकारी माना जाता था। जैसे-जैसे समय बीता, वह भाषा (वैदिक संस्कृत) पुरानी पड़ती गई जिसमें वेद रचे गए और उसने

लौकिक संस्कृत का रूप लिया। इन दोनों भाषाओं में समय का बहुत अंतर आ जाने के बाद वेदों का अर्थग्रहण बिना किसी तरह की मदद के मुश्किल होने लगा। पाणिनीय शिक्षा[54] में बताया गया है कि ऐसे में वैदिक भाषा के अर्थ और उसके उच्चारण व्यवस्था आदि की व्यवस्था को अविकल बनाए रखने के लिए वेद के अध्ययन के छह अंगों (वेदांगों)—शिक्षा (स्वरवर्णोपदेशक ध्वनिशास्त्र), कल्प(यज्ञसंबंधी नियमों का शास्त्र), व्याकरण (पद और वाक्य से संबंधित शास्त्र), निरुक्त (वदिक शब्दों की व्युत्पत्ति का शास्त्र), छन्द (वैदिक मंत्रों के सम्यक पाठ को सुरक्षित रखने वाला शास्त्र) और ज्योतिष (वैदिक यज्ञों के काल-निर्धारण से जुड़ा शास्त्र)—का अध्ययन अनिवार्य है।

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार-

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥[55] (पाणिनीय शिक्षा 41-42)

व्याकरण को वेदों का मुख कहा गया है। इससे वेदांगों में व्याकरण की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

वेदांगों में चार का संबंध भाषा से है। कालांतर में व्याकरण के अलावा प्राचीन भारतीय भाषा-चिंतन का विकास स्वतंत्र रूप से न होकर दर्शनशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र या काव्यशास्त्र के अंतर्गत निहित था क्योंकि भाषा के साथ इन शास्त्रों का अन्योन्याश्रित संबंध है।

पाणिनि के पूर्ववर्ती विद्वान निरुक्तकार आचार्य यास्क ने शब्दों का वर्गीकरण चार प्रकारों में किया- नाम (संज्ञा), आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात। वाक्य में प्रयुक्त शब्द

यानी पदों के वर्गीकरण की यह परम्परा यास्क ने ऋग्वेद से पाई। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में इस चार कोटियों को उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के साथ विभाजित किया और वेदों की भाषा के साथ अपने समय की चलती लौकिक भाषा का भी अध्ययन किया। पाश्चात्य भाषाविज्ञान में फर्दिनांद डी सस्यूर द्वारा भाषा के 'डायाक्रॉनिक' (ऐतिहासिक विकासशील) अध्ययन की जगह 'सिंक्रॉनिक' (समकालिक) अध्ययन पर बल देने को भाषाविज्ञान में एक क्रांतिकारी कदम माना गया है। प्राचीन भारतीय वैयाकरण पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में भाषा-विन्यास के 'समकालिक' अध्ययन पर बल दिया है। **सस्यूर संस्कृत के विद्वान थे और पाणिनि का गहरा अध्ययन भी उन्होंने किया था, अतः उनके भाषा-चिंतन पर संस्कृत व्याकरण परम्परा और पाणिनि का प्रभाव माना जा सकता है**।[56] शब्दों के वर्गीकरण से वाक्य के निर्माण की प्रक्रिया, अर्थ-निर्धारण से लेकर अर्थ उत्पादन तक की प्रक्रिया पर प्राचीन वैयाकरणों ने चिंतन किया है। पाणिनि के पश्चात भारतीय व्याकरण परम्परा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान भर्तृहरि का माना जाता है। उनका ग्रंथ 'वाक्यपदीय' वाक्यविज्ञान का प्राचीनतम वैज्ञानिक चिंतन कहलाता है। भाषा की सार्थक और स्वतंत्र इकाई वाक्य को मानते हुए ध्वनि से लेकर वाक्य तक अर्थग्रहण की प्रक्रिया में मौजूद तत्त्वों का गम्भीर विवेचन भर्तृहरि ने किया है। एक पद से एकाधिक अर्थ ग्रहण होने या पदों द्वारा एकाधिक अर्थ प्रकट किए जाने की समस्या पर भी इन्होंने विचार किया है। शब्द के अर्थविस्तार की प्रवृत्ति का अध्ययन करते हुए उपमा, रूपक, शब्द के प्राथमिक और लाक्षणिक अर्थ-द्योतन की प्रकृति पर चिंतन का सूत्रपात भी प्राचीन वैयाकरणों ने किया, जो आगे चलकर काव्यशास्त्र के प्रमुख विषय बने।

पदों के वर्गीकरण की चली आती परम्परा से दो प्रकार के विवाद उपजे। प्रातिशाख्यों में पद को प्रकृति या मूल माना गया और वाक्य को उस पर आधारित। लेकिन

यास्क ने वाक्य को मूल मानकर उसके संघटन में पद की भूमिका को माना। पद मूल है और वाक्य उस पर आधारित अथवा वाक्य मूल है और पद उसके अंगी, यह मुद्दा प्राचीन भारतीय व्याकरणिक चिंतन परम्परा में वाद-विवाद के केंद्र में रहा।[57] पद और वाक्य के संबंध पर चिंतन ने सत्तामीमांसा (ऑन्टोलॉजी) के लिए मार्ग प्रशस्त किया जो अस्तित्व (सत्ता) या वास्तविकता का दर्शन है। पदार्थ- पद का अर्थ- अर्थात् पद किसे सूचित करते हैं' का प्रश्न पतंजलि के चिंतन में दार्शनिक आधार प्राप्त करता है। 'महाभाष्य' के आरम्भ में ही पतंजलि इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि शब्द नित्य (परमानेंट) है या अनित्य।

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने संसार की प्रकृति पर विचार करने के क्रम में शब्द से अर्थ के संबंध की प्रकृति पर विचार किया है। भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय आस्तिक (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) और नास्तिक (जैन, बौद्ध, चार्वाक) शाखाओं में विभक्त हैं। मीमांसक दार्शनिक भाषा के प्रति शुद्धतावादी दृष्टिकोण रखते हुए मानते हैं कि एकार्थकता (monosemy) ही भाषा का प्राकृतिक और मूल स्वभाव है। भाषा में अनेकार्थकता की स्थिति को वे को वे मूल अर्थ की विकृत या अशुद्ध समझ का परिणाम मानते हैं। मीमांसकों ने पद-पदार्थ संबंध को नित्य (natural, non-derived and constant) माना है। 'मीमांसासूत्र' के रचयिता जैमिनी ने शब्द और अर्थ के संबंध को 'औत्पत्तिक' कहा है। जैमिनी के भाष्यकार शबर ने औत्पत्तिक का अर्थ बताया है- मानवीय हस्तक्षेप के बिना निर्मित' (not created by human convention.)|[58] वृत्तिकार कात्यायन के मत का समर्थन करते हुए पतंजलि ने माना है कि पद-पदार्थ का संबंध 'सिद्ध' है यानी मनुष्यों द्वारा दिया हुआ नहीं है बल्कि मनुष्यों को दिया गया है।

मीमांसकों व वैयाकरणों के विपरीत नैयायिकों व वैशेषिकों ने पद-पदार्थ संबंध को परम्पराप्रदत्त (conventional) तथा समय के साथ विकासमान माना है। न्यायशास्त्र के

प्रवर्तक माने जाने वाले गौतम ऋषि ने यह तर्क दिया है कि शब्द और अर्थ में कोई सीधा या औत्पत्तिक संबंध नहीं है। 'गाय' और 'अग्नि' शब्दों का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि अग्नि का अर्थ जलानेवाली वस्तु और गाय का अर्थ चार पैरों वाले एक पशु-विशेष से है तो यह इसलिए नहीं है कि अग्नि में जलाने के और गाय शब्द में पशु के गुण हैं, बल्कि इन शब्दों के अर्थ इसलिए हैं क्योंकि उनके ये अर्थ मान लिए गए हैं और प्रचलित हो गए हैं।[59]

बौद्ध और जैन दर्शन का भी भाषा-चिंतन में महत्वपूर्ण योगदान है। जैन दर्शन में ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन बहुत विस्तार से मिलता है। प्रकृति में व्याप्त सभी ध्वनियाँ भाषा का अंग नहीं होतीं। जैन ऋषियों ने ध्वनि (जिसे वे 'शब्द' कहते हैं) के 'भाषात्मक' तथा 'अभाषात्मक' भेद किए हैं और भाषात्मक ध्वनियों का भी 'अक्षर' और 'अनक्षर' भेद किया है। 'अनक्षर' शब्द के अंतर्गत उन्होंने पशुओं की भाषा के साथ-साथ देह-भाषा को भी रखा है। मौखिक भाषा के साथ-साथ अर्थ-द्योतन के अन्य माध्यमों को भी उन्होंने भाषा माना। भाषा के प्रति जैन दार्शनिकों का यह उदार दृष्टिकोण बहुत प्रासंगिक भी है। 'ज्ञानरूप शब्द' की अवधारणा के तहत जैन दार्शनिकों ने भाषा की संज्ञानात्मक तथा सम्प्रेषणपरक भूमिका पर चिंतन किया है।[60]

बौद्ध दर्शन में रत्नकीर्ति तथा नागार्जुन द्वारा सुचिंतित 'अपोहवाद' भाषा से जुड़ी बहुत महत्वपूर्ण अवधारणा प्रस्तुत करता है। अपोहवाद शब्दार्थ का दर्शन है जो अर्थग्रहण की प्रक्रिया को विधानपरक नहीं बल्कि निषेधमूलक मानता है। गोपीचंद नारंग के शब्दों में- "अपोह का अर्थ ही है नकारना, अपवर्जित करना। परिणामतः किसी शब्द, अभिव्यक्ति या अवधारणा से कोई भी अर्थ केवल उतना ही प्रकट होता है जितना वह अपने अर्थ में 'अनर्थ' के विभेद से स्थापित है। अर्थात् 'गाय' से अभिप्राय वह अवधारणा है जो अ-गाय

नहीं है। तात्पर्य यह कि यथार्थ का बोध शब्द के विभेदक संबंधों के वैशिष्ट्य से होता है।"[61] अम्बिकादत्त शर्मा के मतानुसार 'अपोहवाद शाश्वतवादी तत्त्वचिंतन और उसके भाषा-दर्शन के विरोध में क्षणिकवादी तत्त्वचिंतन का भाषा-दर्शन है।'[62] शब्दार्थ का संबंध शाश्वत न मानने तथा भाषा में अर्थग्रहण की प्रक्रिया को मूलतः विभेदपरक या निषेधपरक मानने वाला अपोहवाद सस्यूर के संरचनावाद तथा जैक देरिदा के विखंडनवाद की प्रकृति का भाषा-दर्शन ठहरता है।

ऋग्वेद में भाषा या वाक् की कल्पना देवी (इड़ा, सरस्वती) के रूप में की गई है जो कवियों में काव्य रचने की अलौकिक शक्ति का संचार करती है। वैदिक युग (ई.पू. 2000-ई. पू. 800 शताब्दी के बीच) छंदों को आधिभौतिक शक्तियों से परिपूर्ण माना गया तथा इसे मोक्ष-सिद्धि का माध्यम भी माना गया। वैदिक वांङ्मय में 'काव्य', 'अलंकृति' तथा 'रस' जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जो आगे चलकर संस्कृत साहित्यशास्त्र के बीज-शब्द बन जाते हैं। ई.पू.800 से ई.पू. 200 के बीच की शताब्दियों में पूर्वोक्त वेदांगों का विकास हुआ जिनमें काव्य के घटकों- उपमा-रूपक आदि के संदर्भ आते हैं। पतंजलि (ई.पू. 150) ने अपने समय के विख्यात नाटकों 'वासवदत्ता' तथा 'सुमनोत्तर' आदि की चर्चा करते हुए 'रस' के सौंदर्यपरक महत्व का उल्लेख किया है।[63] इस तरह प्राचीन भारतीय परम्परा में साहित्यिक सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन का सूत्रपात वेद और व्याकरण के क्षेत्र से बीज रूप में होता दिखता है। ईसा की दूसरी शताब्दी में रचित माने जाने वाले भरतमुनि के ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में पहली बार संस्कृत आलोचना का विधिवत आरम्भ होता दिखता है। इस ग्रंथ में वे सभी अवधारणाएँ—रस-भाव, औचित्य, गुण-दोष, अलंकार, वृत्ति आदि— की चर्चा मिलती हैं जो अगली लगभग सोलह शताब्दियों तक शास्त्रज्ञों और कवि-आचार्यों के चिंतन के केंद्र में रहते हैं।

भरतमुनि का रस-सूत्र कहता है कि नाट्य के तीन तत्त्वों, विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। शब्द-अर्थ विश्लेषक शास्त्रज्ञों के अनुसार रस के तत्त्व 'अर्थ' की व्यापक श्रेणी में आते हैं। भरत से इतर प्राचीन आलंकारिकों—भामह, दंडी, वामन, उद्भट, रूद्रट आदि—ने काव्यभाषा के सौंदर्यकारक गुणों का विश्लेषण किया तथा अलंकारों यानी काव्य में बहिरंग के शोभाकारक गुणों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया। शब्द और अर्थ को रमणीय बनाने वाले अलंकारों के अलावा काव्य के 'मूड' को व्यक्त करने वाली भाषा-शैली यानी रीति और गुण पर भी विस्तार से चिंतन किया गया है।

रस सम्प्रदाय में भाषा-संबंधी दृष्टिकोण 'साधारणीकरण' की अवधारणा के अंतर्गत प्राप्त होते हैं। रचना के भाव से उत्पन्न रस की निष्पत्ति दर्शक, श्रोता पा पाठक के हृदय में होने को साधारणीकरण कहा जाता है । 'रीतिकाव्य की भूमिका' में डॉ. नगेंद्र ने साधारणीकरण को स्पष्ट करने के लिए दो प्रश्न सामने रखे हैं कि साधारणीकरण रचनाकार के लिए किस प्रकार संभव होता है? वह किस विधि से अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? और इसका उत्तर प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं- "स्वदेश के पंडितों ने इसके दो उत्तर दिए हैं-

1. साधारणीकरण भाषा का धर्म है।
2. साधारणीकरण का मूल आधार मानवसुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यों के हृदय में एक-तार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भट्टनायक और अभिनवगुप्त की ध्वनि है। भट्टनायक काव्य (काव्यमय शब्द) में ही एक ऐसी 'भावकत्व शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का अपनेआप से साधारणीकरण हो जाता है। अभिनवगुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार

मानते हुए शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं ।"[64] रसग्रहण की प्रक्रिया को भारतीय विद्वानों ने भाषा द्वारा संभव बताया है। भारतीय विद्वानों की इस मान्यता को विदेशी पंडितों के मेल का बताते हुए डॉ. नगेंद्र ने फिर लिखा है, "विदेश के पंडित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं जो उन विशेष ज्ञान खंडों और भावों को सबकी चेतना में जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव में एक-दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान हैं : ज्ञान पहला और भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष, हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका भावन भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं , दूसरा वह जिसमें जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारण व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भावदीप्त क्षणों में । जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुनने वालों के हृदय में भी समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य तो यह है कि शब्दों में भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलतः हमारे भावों से ही प्राप्त होती है ।"[65] साधारणीकरण का आधार भाषा है और रस-निष्पत्ति पर विचार करने वालों आचार्यों ने भाषा की भावोद्दीपन की क्षमता को लक्षित करते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इससे रस सम्प्रदाय का भारतीय भाषा चिंतन के विकास में एक पक्ष समझा जा सकता है।

अलंकार-सम्प्रदाय का सारा व्यापार ही भाषा के रूप पक्ष को लेकर है। डॉ. नगेंद्र अलंकार सम्प्रदाय का विकास ही भाषा-संबंधी सूक्ष्म चिंतन के विकास से संबंधित मानते हुए लिखते हैं- "भामह का विवेचन अलंकार के निरूपण का प्रथम प्रयास नहीं है। यह एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है। भामह ने अपने पूर्ववर्ती

मेधाविन् आदि का सादर उल्लेख किया है। अनुमानतः अलंकार परम्परा का विकास धीरे-धीरे तभी से हो रहा था जब से पंडितों ने भाषा की सूक्ष्म परीक्षा आरम्भ कर दी थी।"[66] के. कुमारस्वामी ने अलंकारों की संख्या की भरमार लगा देने वाले सूक्ष्मदर्शी आचार्यों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "To the Indian analytical mind, discovery of new figure of speech was indeed the most favourite preoccupation for several centuries. They are devices for avoiding the obvious and achieving aesthetic form in respect of sound as well as sense, by turns of expression as well as poetic conceits."[67] कुमारस्वामी भारतीय मस्तिष्क को 'तार्किक' स्वभाव का कहते हैं और काव्यशास्त्र के रूपवादी स्वरूप को उसी तार्किक मन का परिणाम। **भाषा का कैसा प्रयोग, उसका कौन-सा गुण, कौन-सी शैली काव्य को भाषा के अन्य प्रयोगों से अलग रूप देती है, रूपवाद के चितन के केंद्र में यही सवाल मुख्य रूप से रहते हैं। अलंकार सम्प्रदाय में भाषा की इन्हीं युक्तियों की खोज की गई है और खोज के परिणाम भी निकाले गए हैं।**

साहित्य को शब्द और अर्थ के सबसे रमणीय योग के रूप में देखने वाले प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्यशास्त्र में रीति और गुण के अंतर्गत भी भाषा के सौंदर्योत्पादक पक्ष पर विस्तार से विचार किया है। आचार्यों ने यह माना है कि सच्ची कविता कवि के मन के भावों से उत्पन्न होती है और सहृदय में रस-संचार द्वारा अपने उद्देश्य में सफल होती है। लेकिन कवि द्वारा यह सफलता भाषा में छंदों के चयन, वाक्य-विन्यास की सामासिक या सरल पद्धति, उनकी सम्मिलित ध्वनि के माधुर्य या ओजपूर्ण प्रभाव, जो न केवल शब्द बल्कि भाव के स्तर पर भी प्रभावशाली हों, ऐसे सायास प्रयोगों से प्राप्त

की जाती है। आचार्यों ने इसे काव्यगुण का नाम दिया है। पं. बलदेव उपाध्याय ने गुण को अलंकार से अलग मानते हुए कहा है कि अलंकार काव्य का बाहरी धर्म होता है जबकि गुण इसकी शोभा बढ़ाने वाले अंतरंग धर्म होते हैं। गुण को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है- "काव्य में सदा विद्यमान रहने वाले तथा शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले रस के धर्म को अलंकार कहते हैं।"[68] काव्य की शोभा बढ़ाने वाले ये अंतरंग धर्म भी अंततः भाषा में ही होते हैं। भरत, दंडी, वामन से लेकर भोजराज तक आचार्यों ने काव्यगुणों की अलग-अलग संख्या बताई है, लेकिन उन सबको केवल तीन गुणों के भीतर समाहित किया जाता है, जिन्हें माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण कहा जाता है। ये तीनों गुण ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों के अलग-अलग ढंग के संयोजन की ही पद्धति से उत्पन्न किए जाते हैं। माधुर्य गुण को उत्पन्न करने के लिए- "ट, ठ, ड, ढ से रहित ककार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अंतिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पंचम वर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ तथा लकार ह्रस्व स्वर से संयुक्त रहते हैं। समास का अर्वथा अभाव होता है या छोटा समास होता है।"[69] इस तरह मन की कोमल स्थिति भाषा द्वारा अभिव्यक्त की जाती है। ओज गुण को उत्पन्न करने के लिए- "वर्ग के प्रथम वर्ण का तृतीय से और द्वितीय का चतुर्थ से योग, रेफ के साथ किसी वर्ण का योग, किसी वर्ण का उसी वर्ण के साथ योग; ट, ठ, ड, ढ, श तथा ष का प्रयोग, दीर्घ समास तथा विकट रचना की जाती है।"[70] इसी तरह प्रसाद गुण उत्पन्न करने के लिए- "काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिससे काव्य श्रोता के चित्त पर चढ जाए तथा समझ में आ जाए।"[71] इसी तरह 'रीति' को पदों की विशिष्ट रचना या संधटन कहा गया है जिससे अभीष्ट भाव उत्पन्न हो सके। इस प्रकार

काव्यशास्त्र की सभी महत्वपूर्ण महत्वपूर्ण भाषा-प्रयोग से संबंधित हैं और काव्यशास्त्रियों की भाषा संबंधी गहरी समझ का स्वतःप्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

प्राचीन भारतीय व्याकरण और दर्शन सम्प्रदाय के बाद भाषा के क्षेत्र में काव्यशास्त्र की ओर से सबसे प्रासंगिक योगदान 'ध्वनि सम्प्रदाय' का माना जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय की प्रासंगिकता का सबसे बड़ा कारण यह है कि इसमें व्याकरण, दर्शन और काव्यशास्त्र की अपने समय तक की महानतम अवधारणाओं को समाहित किया गया है। 'ध्वनि', 'शब्द-शक्ति' और 'रस' तत्त्व के मेल से काव्य के रूप तथा भावपक्ष से संबंधित एक क्रांतिकारी अवधारणा ध्वनि सम्प्रदाय ने प्रस्तुत की है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के साथ आनंदवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक' जो ध्वनि सम्प्रदाय का मूल ग्रंथ है, भारतीय साहित्यिक चिंतन परम्परा के केंद्रीय सिद्धांत ग्रंथ माने जाता है।[72] ध्वनि सम्प्रदाय के सिद्धांतों के महत्व पर आलोचक नामवर सिंह का मानना है- "काव्यकृति कोई स्थित और जड़ पदार्थ नहीं है, यह तो उसी दिन प्रकाशित हो गया जब ध्वन्यालोककार ने शब्द और अर्थ के नित्य संबंध को स्फोट का लक्ष्य बनाया। साहित्यशास्त्र के इतिहास में वह पहला क्रांतिकारी विस्फोट था। इस विस्फोट के द्वारा अर्थ शब्द के जड़ बंधन से मुक्त हुआ और नई-नई व्याख्या के लिए पथ प्रशस्त हुआ। आज भी उस स्फोट की ध्वनि से दिशाएँ गूँज रही हैं।"[73]

आधुनिक भारतीय भाषा-चिंतन पाश्चात्य भाषा-चिंतन से अत्यधिक प्रभावित रहा है। भाषाविद् आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के शब्दों में, "यह विचित्र विरोधाभास है कि यूरोप में भाषाविज्ञान के अध्ययन का आरम्भ संस्कृत के अध्ययन और परिज्ञान से प्रेरित हुआ और भारत में यूरोपीय प्रभाव के फलस्वरूप। यहाँ यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का ग्रहण जैसे अन्य क्षेत्रों में हुआ, वैसे ही भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी। इसलिए आधुनिक भारतीय दृष्टि में स्वतंत्र और मौलिक चिंतन का अभाव है।"[74] आधुनिक भारतीय भाषा-चिंतन भारतीय

भाषाओं और बोलियों के वर्णनात्मक-व्याकरणिक अध्ययन से आरम्भ हुआ, जो तत्कालीन यूरोपीय भाषाविज्ञान से पद्धति और दृष्टिकोण ग्रहण कर रहा था पर साथ ही उपनिवेशवादी दौर में भारतीय भाषाओं की अस्मिता को रेखांकित करने का प्रयत्न भी इसमें परिलक्षित होता है।

इस तरह हम पाते हैं कि भारतीय चिंतन परम्परा में आरम्भ से ही भाषा की प्रकृति तथा मानव चेतना, समाज तथा कलाओं के निर्माण में इसकी भूमिका पर उत्तरोत्तर गम्भीर चिंतन की परम्परा मौजूद रही है। आध्यात्मिकता का रूप लिए हुए भाषा संबंधी प्राचीन चिंतन अपनी पद्धति में वैज्ञानिक रूपवादी पद्धति है। काव्य में अर्थ-भाव-सौंदर्य की गहराई को प्राचीन विद्वान किसी अदृश्य शक्ति का आशीर्वाद न मानकर भाषा में कुछ कौशल प्राप्त कर लेने की क्षमता से संबंधित मानते हैं।

ख. पाश्चात्य चिंतन परम्परा में भाषा

ज्ञान-विज्ञान के अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों की तरह भाषा पर चिंतन का पाश्चात्य इतिहास भी प्राचीन यूनान से होता है। भाषा पर चिंतन का यह इतिहास कितना पुराना इसके विषय में निश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता परंतु मनुष्य के मन में अपने अस्तित्व के प्रति सजगता ने ही विश्व के प्रति जैसे उसकी जिज्ञासाओं को प्रेरित किया वैसे ही भाषा के विषय में भी। प्राचीन यूनान में भाषा पर चिंतन के प्रमाण सुकरात-पूर्व दार्शनिकों के यहाँ मिलते हैं जिन्होंने अन्य भाषाओं से ग्रीक भाषा के अंतर को ध्यान में रखते हुए भाषा पर विचार किया है। इनके बाद ग्रीक साहित्य के क्लासिकल या शास्त्रीय काल (पाँचवीं से चौथी शताब्दी ई.पू.) में अलंकारशास्त्रियों के यहाँ भाषा चिंतन मिलता है, सुकरात-प्लेटो-अरस्तु के दार्शनिक चिंतन में भी भाषा से जुड़े महत्वपूर्ण विचार इस दौर में सामने आते हैं।

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो को पाश्चात्य चिंतम जगत में उनके परवर्ती विद्वानों ने ग्रीक भाषा में व्याकरणिक चिंतन के प्रतिपादन का श्रेय दिया है।[75] प्लेटो के भाषा-संबंधी विचार 'क्रैटिलस' में दर्ज संवादों के रूप में मिलते हैं। इसमें प्लेटो ने शब्दों की उत्पत्ति के संबंध में विचार किया है तथा शब्द और विश्व के संबंध की प्रकृति संबंधी मान्यताओं को अभिव्यक्त किया है।[76] विश्व के ज्ञान के लिए पद का ज्ञान आवश्यक मानते हुए वे भाषा को नित्य मानते थे यानी वस्तुओं के साथ उनके नामों का संबंध वे प्राकृतिक मानते थे। प्लेटो ने ये विचार अपनी पूरवर्ती परम्परा से प्राप्त किए थे।

भाषा को ज्ञान का महत्वपूर्ण साधन अरस्तु भी मानते थे लेकिन पद-पदार्थ संबंध को वे नित्य नहीं मानते थे। अरस्तु ने अपने गुरु प्लेटो के विचारों का आधार ग्रहण कर अपनी मौलिक दृष्टि विकसित की, अतः वे प्लेटो के विचारों से आगे बढ़ सके थे। अरस्तु ने भाषा को परिभाषित करते हुए लिखा है- "Speech is the representation of the experience of mind, and writing is the representation of the speech."[77] भाषा को अरस्तु ने मानसिक अनुभवों की अभिव्यक्ति माना है। अरस्तु का भाषा संबंधी चिंतन शुद्ध भाषा-चिंतन न होकर उनके सामाजिक-राजनीतिक-साहित्यिक चिंतन का महत्वपूर्ण अंग है। अरस्तु के विचार से चिंतन के तीन पक्ष या रूप होते हैं- व्यावहारिक, कलात्मक और सैद्धांतिक; जिनके अनुसार इन चिंतन-क्षेत्रों की भाषा भी अलग-अलग होती है। इस तरह विच्छिन्न रूप में ही सही पर अरस्तु ने भाषा की प्रकृति, मानव मन और भाषा के संबंध से लेकर भाषा की व्याकरणिक कोटियों पर भी विचार किया है। राजनीतिज्ञों के प्रभावशाली व्याख्यानों से जनता की सोच और क्रियाकलापों को प्रभावित होते देख अरस्तु ने भाषा में विचार और क्रिया को आकार देने की क्षमता पर भी विचार किया है तथा

इसे सामान्य भाषा की काव्यात्मक शक्ति माना है। साहित्य में भाषा के स्वायत्त संसार का अस्तित्व भी वे मानते हैं जो बाह्य जगत के नैतिक नियमों से परिचालित नहीं होता।[78]

अरस्तु के बाद पाश्चात्य भाषा चिंतन के क्षेत्र में स्टोइक (Stoic) सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण योगदान है। ज़ेनो (300 ई. पू.) द्वारा प्रवर्तित इस सम्प्रदाय ने अरस्तु के भाषा चिंतन को व्यवस्थित रूप देकर आगे बढ़ाते हुए दर्शन और अलंकारशास्त्र (रेटरिक) में अपना मौलिक योगदान भी दिया है। भाषिकी को ज्ञान के एक अनुशासन का रूप देने में स्टोइक सम्प्रदाय की बड़ी भूमिका है। भाषा के विषय में स्टोइक सम्प्रदाय की प्रमुख मान्यता यह है कि यह एक मानसिक क्रियाकलाप है जिसमें मनुष्य का मस्तिष्क बाह्य जगत से प्रभाव (impression) ग्रहण करता है और फिर मस्तिष्क उस प्रभाव से प्राप्त अनुभव को शब्दों में प्रकट करता है। साथ ही स्टोइक सम्प्रदाय ज्ञान की प्राप्ति के लिए चिंतन की द्वंद्वात्मक पद्धति को आवश्यक मानता है और द्वंद्वात्मक पद्धति में भाषा या स्पीच के अध्ययन को महत्वपूर्ण मानता है। रूप और अंतर्वस्तु के द्वैत को भी इस सम्प्रदाय ने सूत्रबद्ध किया। भाषा में 'संकेतक' और 'संकेतित' के द्वैत को इन्होंने लक्षित किया जो आगे चलकर फर्डिनांड डी सस्यूर के संरचनावादी भाषा-चिंतन का आधार बना। इस सम्प्रदाय ने ध्वनि विज्ञान, व्याकरण और व्युत्पत्तिशास्त्र (etymology) के क्षेत्र में भी भाषा के अध्ययन को प्रशस्त किया।[79]

स्टोइक सम्प्रदाय के बाद पाश्चात्य भाषा-चिंतन को आगे बढ़ाने में अलेक्जेंड्रिया स्कूल के कार्यों को महत्वपूर्ण माना जाता है। स्टोइक विद्वानों के विपरीत इन्होंने साहित्य के संदर्भ में भाषा का अध्ययन किया तथा ये लोग अपनी पद्धति में सादृश्यवादी थे।[80] इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने ग्रीक भाषा के काव्य-विश्लेषण के संदर्भ में भाषा-संबंधी अध्ययन प्रारम्भ किया।[81] ग्रीक भाषा के प्रथम वैयाकरण माने जाने वाले डियोनिसियस थ्रैक्स (100

ई.पू.) के गुरु एरिस्टार्कस अलेक्जेंड्रिया सम्प्रदाय के सबसे प्रसिद्ध भाषा-चिंतक माने जाते हैं जिन्होंने होमर के साहित्य के भाषिक अध्ययन की परम्परा चलाई। व्याकरण के विकास के क्षेत्र में भी इनका योगदान माना जाता है, पर मुख्यतः इन्होंने उपमा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अवधारणाओं से जुड़ा भाषा-चिंतन किया है।

भारतीय भाषा-चिंतन की तरह पाश्चात्य भाषा-चिंतन की परम्परा का आरम्भिक काम भाषा की व्याकरणिक कोटियों के निर्धारण पर अधिक केंद्रित दिखाई पड़ता है। डियोनिसियस थ्रैक्स की 15 पृष्ठों और 25 प्रकरणों की पुस्तक 'टेक्ने ग्रामाटिके' (Techne Grammatike) में ग्रीक भाषा की व्याकरणिक संचरना का संक्षिप्त किंतु उत्कृष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है।[82] इस पुस्तक का प्रभाव पाश्चात्य व्याकरण परम्परा पर कितना पड़ा है, इसे बताते हुए आर. एच. रॉबिन्स लिखते हैं-

"The description given by Thrax was regarded as definitive. It was translated into Armenian and Syriac early in Christian era, and was the subject of a considerable amount of exegesis from Byzantine critics, or scholiasts. It remained a standard work for thirteen centuries., and a modern writer has declared that almost every book of English grammar bears evidence of a debt to Thrax."[83]

थ्रैक्स ने व्याकरण को बोलचाल की भाषा के नियमों को बताने वाली पुस्तक नहीं बल्कि कवियों और गद्यकारों के भाषिक प्रयोगों का व्यावहारिक ज्ञान कहा है। इसका कारण इन पर इनके गुरु अलेक्जेंड्रिया सम्प्रदाय के एरिस्टार्कस का प्रभाव ही माना जाता है। थ्रैक्स के व्याकरण-ग्रंथ की सुव्यवस्था, संक्षिप्तता तथा सरलता आधुनिक वैयाकरणों के बीच भी प्रसंशित है। प्राचीन भारतीय व्याकरणशास्त्र की तरह थ्रैक्स के व्याकरण में भी पाठ के

तरीकों, कृति के साहित्यिक गुणों की व्याख्या, शब्दों की व्युत्पत्ति से संबंधित ज्ञान आदि मुख्य विषय हैं।

यूनान और अलेक्जेंड्रिया के बाद रोमन साम्राज्य के अधिनस्थ क्षेत्रों में भाषा के अध्ययन-मनन की नयी परम्परा के दर्शन होते हैं। ईसा की शताब्दी के आरम्भ के साथ ही रोमन साम्राज्य भी स्थायी होता है और इसके भीतर कई अलग-अलग भाषा तथा संस्कृतियों का समावेश होता है। इस साम्राज्य के पश्चिमी भाग में प्रशासन, व्यापार, विधि, शिक्षा तथा सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों की परिनिष्ठित भाषा लैटिन थी और पूर्वी क्षेत्र में प्राचीन समय से ही मुख्य भाषा ग्रीक थी। माना जाता है कि एक ही साम्राज्य में दोनों भाषाओं के प्रयोग के कारण इस दौर में अनुवाद-कार्य बहुतायत से हुए। समृद्ध ग्रीक साहित्य के सुव्यवस्थित अनुवाद लैटिन में हुए तथा लैटिन भाषा की अपनी प्रकृति पर ग्रीक भाषा का बहुत प्रभाव पड़ा। दोनों भाषाओं के इस मिलन का सुंदर उदाहरण रोमन कवि वर्जिल की काव्यभाषा में मिलता है। बहुभषिकता को इस युग में प्रशंसनीय माना जाता था। इस युग का प्रमुख भाषाचिंतक जिसके कार्यों के कुछ प्रमाण प्राप्त होते हैं, वार्रो (116-27 ई. पू.) है। 'डी लिंगुआ लातीना' नामक पुस्तक में वार्रो के भाषा-संबंधी चिंतन के दर्शन होते हैं। वार्रो के भाषा-संबंधी चिंतन पर रॉबिन्स ने लिखा है-

"One major feature of Varro's linguistic work is his lengthy exposition and formalization of the opposing views in the analogy-anomaly controversy….Varro's style has been criticized as unattractive, but on linguistic question, he was probably the most original of all the Latin scholars."[84]

पश्चिमी सभ्यता में जिस लंबे समय काल को मध्यकाल या अंधकार युग कहा जाता है, उस दौरान हर तरह की विद्वता की बुनियाद व्याकरण के गहन ज्ञान को माना गया। व्याकरण की शिक्षा 'लिबरल आर्ट' के रूप में दी जाती थी और साथ ही उस दौर की शिक्षा की शास्त्रीय भाषा लैटिन के समुचित ज्ञान के लिए भी यह आवश्यक था। व्याकरण के अंतर्गत साहित्यिक रूपों के अध्ययन के साथ-साथ लैटिन-अंग्रेजी व्याकरण, लैटिन-बार्डिक व्याकरण आदि का लेखन बड़े पैमाने पर हुआ। शब्दों की व्याकरणिक कोटियों को लेकर दार्शनिक तथा भाषावैज्ञानिक चिंतन भी अंधकार युग के आखिरी दौर तक होने लगता है।

पंद्रहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण काल में ग्रीक, लैटिन तथा हिब्रू भाषाओं का ज्ञान तत्कालीन शिक्षित वर्ग के लिए गर्व का विषय माना जाता था। इस कारण हिब्रू भाषा की व्याकरणिक कोटियों का समावेश ग्रीक तथा लैटिन व्याकरण में हुआ। इस स्थिति ने भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग भी खोला। हिब्रु में भाषा चिंतन की परम्परा पर अरबी भाषा-चिंतन परम्परा का पूरा प्रभाव है, अतः हिब्रु के माध्यम से ग्रीक-रोमन भाषा-चिंतन की परम्परा का सम्पर्क गैर-भारोपीय भाषा चिंतन की परम्परा से हुआ। इस तरह पुनर्जागरण का दौर भाषा-चिंतन में विभिन्न दृष्टियों और परम्पराओं के समन्वय का भी दौर है। पुनर्जागरण के दौर में भी मुख्यतः व्याकरण के स्तर ही भाषा के क्षेत्र में काम हुए लेकिन ये काम ग्रीक और लैटिन जैसी पुरानी शास्त्रीय भाषाओं पर आधारित न होकर आम आधुनिक भाषाओं जैसे स्पेनिश, इतालियन भाषाओं को महत्व देकर उनके व्याकरण लेखन की ओर अग्रसर थे। धार्मिक सुधारों तथा क्षेत्रीय भाषाओं में बाइबल के अनुवाद आदि से क्षेत्रीय भाषाओं को महत्ता मिली। भाषा विज्ञान के ऐतिहासिक अध्ययन या ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की शुरूआत भी इन्हीं स्थितियों के बीच हुई। क्षेत्रीय भाषाओं के

शब्दों तथा ध्वनियों के परिवर्तन या क्रमिक विकास के अध्ययन की शुरूआत हुई जिसका मुख्य उद्देश्य उन भाषाओं का संबंध उनकी जननी भाषा 'लैटिन' से दिखाना था।

व्यापार आदि के लिए यूरोपीय देशों से यात्रियों और व्यापारियों का अन्य सुदूर देशों में जाना तथा उनकी भाषा, उनके व्याकरण आदि का अध्ययन तथा प्रकाशन आधुनिक पाश्चात्य भाषाचिंतन को उसकी वर्तमान बुलंदियों तक पहुँचाने की मजबूत नींव बना। पाश्चात्य आधुनिक भाषाचिंतन का एक बड़ा हिस्सा भारोपीय भाषा-परिवार की अवधारणा के निर्माण तथा विकास पर केंद्रित है जो सन् 1786 में सर विलियम जोंस द्वारा दी गई इस स्थापना पर केंद्रित रही कि संस्कृत का निकट संबंध क्लासिकल, जर्मेनिक तथा केल्टिक भाषाओं से है।[85] अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत के विशद अध्ययन तथा संस्कृत के प्राचीन सुव्यवस्थित व्याकरण परम्परा से उनके परिचय ने आधुनिक भाषा-विज्ञान की ऐसी नींव डाली जो भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन से अधिक उसके समकालिक और संरचनागत अध्ययन पर केंद्रित हुई।

बीसवीं सदी को भाषा विज्ञान तथा भाषा के अंतर्विषयक चिंतन का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। इस सदी के आरम्भ में फर्डिनांड डी सस्यूर ने भाषा के एककालिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन को परिभाषित किया। शब्द और अर्थ के संबंध को यादृच्छिक तथा परम्परा द्वारा निर्धारित मानते हुए इन्होंने शब्द को संकेत (signifier) और अर्थ को संकेतित (singnified) कहा है। साथ ही, लैंग (langue) तथा परोल (parole) की अवधारणा प्रस्तुत की। परोल भाषा का व्यक्तिनिष्ठ व्यावहारिक रूप है तथा लैंग उस भाषा-विशेष की व्यवस्था है जिसके आधार पर भाषा बोली जाती है। लैंग की अवधारणा के अंतर्गत सस्यूर ने भाषा की संरचना के अध्ययन का मार्ग दिखाया। भाषा को उन्होंने परस्पर सम्बद्ध तत्त्वों (ध्वनि-प्रक्रिया, शब्द-भंडार, व्याकरण आदि) की व्यवस्था माना है और इन

तत्त्वों को एक-दूसरे के परिप्रेक्ष्य में ही परिभाषित होने योग्य माना है, स्वतंत्र इकाइयों के रूप में नहीं।[86] सस्यूर के भाषा-चिंतन को जेनीवा सम्प्रदाय के भाषाविदों **चार्ल्स बेली** तथा **अल्बर्ट सेशेहे** ने पुस्तकाकार सम्पादित तथा प्रकाशित किया। इन विद्वानों ने **विचार और अभिव्यक्ति के बीच के संबंध पर चिंतन** करने के साथ-साथ संरचनावादी भाषा-सिद्धांत को शिक्षण क्षेत्र में लागू करने के लिए व्याकरणिक पद्धति के विकास का प्रयत्न भी किया।[87]

भाषा विज्ञान के क्षेत्र में साध्य रूप में भाषा पर चिंतन के साथ ही ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी भाषा-संबंधी महत्वपूर्ण विचार सामने आए। अमेरिकी मानवविज्ञानी **फ्रैंज़ बोआज़** ने मानव-विज्ञान के क्षेत्र में काम करते हुए उत्तरी अमेरिका की आदिवासी जातियों की भाषाओं का सर्वेक्षण किया तथा **भाषा और संस्कृति के अंतर्संबंध से** जुड़े अध्ययनों का मार्ग प्रशस्त किया। इनका भाषा-संबंधी कार्य अमेरिका के वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की नींव है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में **लेनर्ड ब्लूमफील्ड** का योगदान महत्वपूर्ण है। ब्लूमफील्ड ने व्यवहारवादी मनोविज्ञान को भाषा के अध्ययन के क्षेत्र पर लागू करते हुए भाषा की प्रकृति तथा प्रकार्य की व्याख्या उद्दीपन और अनुक्रिया के सिद्धांत के आधार पर की है।[88] फ्रैंज़ बोआज़ के शिष्य **एडवर्ड सपीर** तथा सपीर के शिष्य **बेंजामिन ली व्होर्फ़** ने भाषा को मनुष्य की सांस्कृतिक-कलात्मक अभिव्यक्तियों के संदर्भ में देखा और मानव-चेतना के निर्माण में भाषा की भूमिका का अध्ययन किया। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की भिन्न-भिन्न विश्वदृष्टि के निर्माण में इन्होंने उनकी भाषा की विशिष्टता को कारण माना है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का भाषा-चिंतन संज्ञानात्मक विज्ञान से प्रभावित है। इस दौर के सुप्रसिद्ध भाषा-चिंतक तथा राजनीतिक चिंतक विश्लेषक **नोम चॉमस्की** ने भाषा सीखने को मानव की सहजात क्षमता मानते हुए, मानव-मस्तिष्क की संरचना की सार्वभौमिकता के आधार पर मानव-भाषा के सार्वभौम व्याकरण की अवधारणा प्रस्तुत

की। 'सिन्टैक्टिक स्ट्रक्चर्स' नामक अपनी पुस्तक के द्वारा भाषा संबंधी चिंतन के केंद्र में उन्होंने वाक्य-पक्ष को स्थापित किया। भाषा को उन्होंने मानव-मस्तिष्क की विशिष्ट क्षमता या 'मेंटल फैकल्टी' माना तथा इसे सीमित शब्दों द्वारा असीमित नये वाक्यों की रचना कर सकने की योग्यता से सम्पन्न बताया है।

इस तरह पाश्चात्य चिंतन परम्परा में भाषा-संबंधी अध्ययन-मनन की दिशा रूपवादी अध्ययन से भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन तथा कालांतर में ज्ञान के विविध क्षेत्रों से संबद्ध अंतरानुशासनात्मक अध्ययन की ओर रही है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ-साथ भाषा की अवधारणा भी विस्तृत हुई है। पाश्चात्य दार्शनिक लुडविग विट्गेंस्टाइन का मानना था कि भाषा मनुष्य के लिए इतनी परिचित है कि वह उसके चमत्कार को भूला रहता है। लेकिन भाषा के संबंध में भारतीय चिंतन की प्राचीन परम्परा के अवलोकन के पश्चात हम पाते हैं कि भाषा द्वारा घटित होने वाले चमत्कार का भान मनुष्य को रहा है और उस चमत्कार के प्रति जिज्ञासा ने उसके ज्ञान को विकसित और परिष्कृत किया है। दर्शन, व्याकरण और काव्यशास्त्र ही नहीं, आधुनिक ज्ञानानुशासन के अधिकांश क्षेत्र भाषा की प्रकृति के अध्ययन को साधन और साध्य रूप में अपनाकर उन्नत हुए हैं।

***

संदर्भ सूची

1. त्रिपाठी, डॉ. रामसागर , 2017, आनन्दवर्धनाचार्यविरचितः ध्वन्यालोकः तृतीय उद्योतः, नई दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, पृष्ठ- 53
2. Mills, Sara, 1997, Discourse, London and New York: Routledge, page- 5
3. सिंह, दिलीप, 2011, भाषा का संसार, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-
4. “Language enables one person to make a reaction when another person has the stimulus.” - Bloomfield, Leonard, 2012, Language, New Delhi: Motilal Banarasidass Publishers Private Limited. page 23-24
5. “The division of labour, and, with it, the whole working of human society, is due to language.” -Bloomfield, Leonard, 2012, Language, New Delhi: Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, page- 24.
6. Pinker, Steven, 2015, The Language Instinct, UK: Penguin Random House, page- 14
7. हरारी, युवाल नोआ, 2020, सेपियंस : मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास (अनु.- मदन सोनी), भोपाल: मंजुल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ- 35
8. हरारी, युवाल नोआ, 2020, सेपियंस : मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास (अनु.- मदन सोनी), भोपाल: मंजुल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ- 33

9. सिंह, दिलीप, 2011, भाषा का संसार, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृष्ठ- 23

10. वही, पृष्ठ- 10

11. अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, 2012, साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया (संपादक- कृष्णदत्त पालीवाल), नई दिल्ली: सस्ता साहित्य मंडल, पृष्ठ- 155

12. वही, 148

13. वही, 148

14. वही, 149

15. वर्मा, निर्मल, 2017, साहित्य का आत्म-सत्य, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 11

16. वही, 13

17. वही, 14

18. Eagleton, Terry, 1990, The Significance of Theory, UK: Basil Blackwell, page- 18

19. विट्गेन्स्टाइन, लुडविग, 2016, ट्रैक्टेटस लॉजिको-फिलोसॉफिकस (अनु.- अशोक बोहरा, नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ-94

20. वर्मा, निर्मल, 2017, साहित्य का आत्म-सत्य, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 14

21. On Language by Humboldt, Marxist.org

22. वही

23. वही –"Though we may separate intellectuality and language, no such division in fact exist."

24.वही

25. “Language is a purely human and non-instinctive method of communicating ideas, emotions and desires by means of a system of voluntarily produced symbols.” Sapir, Edward, 2018, Language: An Introduction to the Study of Speech, Alpha Editions, page- 7
26. वही, 4
27. वही, 7
28. वही, 10
29. “The instrument makes possible the product, the product refines the instrument.” -वही, 14
30. वही, 12
31. शॉन पी. ओ’नील, द सपीर-व्होर्फ हाइपोथेसिस, https://www.academia.edu/17804897/Sapir_Whorf_Hypothesis
32. वही
33. https://www.freud.org.uk/education/resources/who-was-sigmund-freud
34. https://www.psychiatrictimes.com/view/jacques-lacan-best-and-least-known-psychoanalyst
35. Chomsky, Noam, 1998, On Language, New York London: The New Press, 43

36. Chomsky, Noam, 2000, New Horizons in the study of Language and Mind, London: Cambridge University Press 4)

37. Pinker, Steven, 2015, The Language Instinct, UK: Penguin Random House, page- 13

38. वही, 16

39. संस्कृत-हिंदी कोश, वामन शिवराम आप्टे, नई दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस, 2021, पृष्ठ- 256

40. हिंदी साहित्य ज्ञानकोश, प्रधान संपादक-शंभुनाथ, कोलकाता: भारतीय भाषा परिषद्, वितरक- नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृष्ठ- 860-861

41. वही, 861

42. वही, 861

43. वही, खंड-7, 4250

44. वही, 4251

45. शर्मा, रामविलास, 2012, भाषा, साहित्य और जातीयता, नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन, पृष्ठ- 67

46. वही, 77

47. Miller, G. & Johnson-Laird, P. (1976). *Language and Perception*. Cambridge, MA and London, England: Harvard University Press. https://doi.org/10.4159/harvard.9780674421288

48. सिंह, केदारनाथ, 2016, आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब-विधान, नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ- 34

49. वही, 62

50. वही, 63

51. मिश्र, विद्यानिवास, 1978, भारतीय भाषाशास्त्रीय चिंतन की पीठिका, पटना: बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पृष्ठ- 10-14

52. सबिंद्र राज भंडारी, द डाइमेंशन ऑफ लैंग्वेज एंड थॉट इस द वेदिक लिटरेचर, 135

53. मिश्र, विद्यानिवास, 1978, भारतीय भाषाशास्त्रीय चिंतन की पीठिका, पटना: बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पृष्ठ- 10-14

54. अवस्थी, बच्चूलाल, 1993, पाणिनीयशिक्षा, उज्जैन: श्रीनिवासरथ

55. वही, 41-42

56. नारंग, गोपीचंद, 2014, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र, नई दिल्ली: साहित्य अकादमी, पृष्ठ- 265, 284

57. Matilal, Bimal Krishna, 1992, The World and The Word: India's Contribution to the Study of Language, Delhi: Oxford University Press

58. वही, 16

59. नारंग, गोपीचंद, 2014, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र, नई दिल्ली: साहित्य अकादमी, पृष्ठ- 263

60. प्रदीप पी. गोखले, लिंग्विस्टिक फिलोसोफी इन जैनिज्म

61. संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र, 269

62. अपोहवाद और व्याकरण परम्परा के शब्दार्थ सिद्धांतों की समीक्षा, संस्कृत विमर्श, 2010, पृष्ठ- 163

63. Devy, G. N., 2002, Indian Literary Criticism: Theory and Interpretation, Hyderabad: Orient Longman, page- 317

64. डॉ. नगेन्द्र, 1953, रीतिकाव्य की भूमिका, नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 48

65. वही, 48

66. वही, 77

67. Devy, G. N., 2002, Indian Literary Criticism: Theory and Interpretation, Hyderabad: Orient Longman

68. संस्कृत आलोचना, 205

69. वही, 206

70. वही, 207

71. वही, 207

72. Devy, G. N., 2002, Indian Literary Criticism: Theory and Interpretation, Hyderabad: Orient Longman

73. वाद विवाद संवाद सिंह, नामवर, 2019, वाद विवाद संवाद, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 70

74. शर्मा, आचार्य देवेन्द्रनाथ, 2013, भाषा विज्ञान की भूमिका, नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ- 307

75. Robins, R.H., 1976, A short History of Linguistics, London: Longman Group Limited, page- 13

76. ब्लूमफील्ड, 4. Bloomfield, Leonard, 2012, Language, New Delhi: Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, 4

77. (Larkin, 18)

78. शॉन ओ'नील, https://www.academia.edu/17804897/Sapir_Whorf_Hypothesis

79. Robins, R.H., 1976, A short History of Linguistics, London: Longman Group Limited, page- 15

80. Robins, R.H., 1976, A short History of Linguistics, London: Longman Group Limited, page- 30

81. तिवारी, भोलानाथ, 2011, भाषाविज्ञान, नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन, पृष्ठ- 506

82. Robins, R.H., 1976, A short History of Linguistics, London: Longman Group Limited, page- 30

83. Robins, R.H., 1976, A short History of Linguistics, London: Longman Group Limited, page- 31

84. Robins, R.H., 1976, A short History of Linguistics, London: Longman Group Limited, page- 48

85. Levin, S. R. (1965). Modern Linguistics: Its Development and Scope. *The Journal of Higher Education*, *36*(3), page- 137

86. शर्मा, आचार्य देवेन्द्रनाथ, 2013, भाषा विज्ञान की भूमिका, नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ- 324

87. वही, 325

88.वही, 326